(8)+(9)

आल्हखंड

शोध
और
समीक्षा

आल्हखण्ड भारत का राष्ट्रीय काव्य है। बहुत दिनों तक मुख का निवासी होने के कारण इसमें अनेक परिवर्तन हुए हैं तथा लिखित रूप में न होने के कारण इसका सम्यक प्रचार भी नहीं हो सका।

यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि डा० नर्मदा प्रसाद गुप्त जी ने इस राष्ट्रीय काव्य के महत्व को दृष्टि में रखते हुये उसका विवेचन और मूल्यांकन किया है। ऐसे विशिष्ट लेख जिनमे आल्हखण्ड के राष्ट्रीय तथा नैतिक मूल्यों का उद्घाटन होता है, उनका स्वतन्त्र संग्रह न केवल देश के विशिष्टकालीन इतिहास पर प्रकाश डालेगा, वरन् साहित्य में उसके असंदिग्ध महत्व को भी प्रतिपादित करेगा। लोकसाहित्य के अन्तराल में इस वीरता से परिपूर्ण कथानक से आज के राष्ट्रीय जीवन को मनोबल प्राप्त होगा।

मुझे विश्वास है इस ग्रन्थ का साहित्य के क्षेत्र में विशेष स्वागत होगा। मैं डा० नर्मदा प्रसाद जी को इस महत्वपूर्ण कार्य के लिये हार्दिक साधुवाद देता हूं।

—डा० रामकुमार वर्मा
साकेत, इलाहाबाद
विजया दशमी, १९८३

आल्ह खण्ड

शोध और समीक्षा

आल्हखंड
शोध
और
समीक्षा

सम्पादक
डॉ० नर्मदा प्रसाद गुप्त
डॉ० वीरेन्द्र 'निर्झर'

बुंदेलखण्ड साहित्य अकादमी, छतरपुर, मध्य प्रदेश,

मूल्य : रु० ४०·००
प्रथम संस्करण : १९८३
प्रकाशक : **बुंदेलखण्ड साहित्य अकादमी**
छतरपुर—४७१००१, म० प्र०

मुद्रक :—इलाहाबाद प्रेस, ३७० रानीमण्डी, इलाहाबाद

ALHAKHAND : SHODH AUR SAMIKSHA
Price Rs. 40·00

निराशा, कुण्ठा और विसंगति
के बंजर में
आस्था और ऊर्जा की फसलें उगाने
बुँदेली लोक की आल्हाचेतना के सूरज को
अकादमी-अंजुरी का
यह अक्षर-अर्घ

आभार

इस ग्रंथ के प्रकाशन में श्री प्रणवानन्द जनकल्याण ट्रस्ट, छतरपुर ने दो हजार रुपये की धनराशि प्रदान की है, तदर्थ स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती एवं ट्रस्ट परिवार की उदारता के प्रति अकादमी कृतज्ञ है।

—सचिव

बुंदेलखण्ड साहित्य अकादमी, छतरपुर

अनुक्रम

शोध-खण्ड

महाराज छत्रसाल का एक पत्र

श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा छत्रसाल जू देव येते श्री श्री दिमान जगतराज जू देव कौं। आपर तुमारी लिखी आई कै जो अमुआ परगने मैं चौरासी है। मौजो ककरेड़ी को नगर कहावत है डांग में है। चार कोस मैं येक···· जाधा बनी है वा कैऊ ठौर कुवा हैं। वन कुवन मैं सांकरैं डरी हैं। सो ऊ गांव कीको बसावो आय। को रहत रहे हैं ? जो परगनो बछलन सरेहो है। चंदेली राज आय। आलहऊदल को बसाओ आय। बनकी जाघा आय। महोबे मैं रहत रहे हैं। कबहूं नगर मैं आनकर रहत रहे हैं। वा जाघा पै धन बहुत है। बघेलन सैं हमनैं ऊ परगनो फतै करो है। वहाँ तिहतर लाख को धन हमैं मिलो हतो वा हथियार मिले हते। ऊदर के घोड़े की करवारी सोने की मिली हती। हमारे पास अबै है वा हथयार हैं। फिर हमैं सपनो भयो हतो जो कछू धन तुमको मिल गयो है सो लै जाओ। अब इहाँ के धन के लानें खोद बिनोद मैं ना परो। तीसें फिर हमनैं वहाँ नहीं खुदवाओ आय सो जानियो। बैसाख बदि १२ संवत १७८६ मुकाम मऊ।

[पन्नानरेश महाराज छत्रसाल का १७२९ ई० का यह पत्र आल्ह-ऊदल द्वारा नगर बसाये जाने का साक्षी तो है ही, साथ ही ऊदल के बेंदुला अश्व की सोने की करवारी (कटि का आभूषण) मिलने से यह प्रमाणित करता है कि आलहा-ऊदल के पद और प्रभाव की प्रतिष्ठा थी।]

आल्हखंड की खोज : कुछ समस्याएं

डा० नर्मदा प्रसाद गुप्त

● कुछ भ्रांतियां

आल्हखण्ड की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध न होने के कारण इतिहासकारों और विद्वानों में कुछ भ्रान्तियां पनप रही हैं, जिनका संकेत करना बहुत जरूरी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने 'परमालरासो' को आल्हखण्ड का मूलरूप समझ लिया है, जिससे विद्वानों और पाठकों का एक वर्ग उनका अन्धानुसरण कर रहा है। कुछ ने तो परमाल रासो को (डा० श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित एवं काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित) देखा तक नहीं। उसकी हस्तलिखित प्रतियां भी मौजूद हैं, जिनमें ग्रंथ का नाम 'पृथ्वीराज रायसो चन्दवरदाई कृत' दिया गया है। परमालरासो नामकरण केवल कल्पना के आधार पर किया गया है और वह भ्रामक भी है क्योंकि उससे परमाल या परमर्दिदेव के चरित्र-वर्णन या उनकी प्रधानता का अनुमान लगाया जा सकता है, जबकि उसकी कथा के नायक बनाफर वीर अल्हा-ऊदल हैं। विचित्र तो यह है कि बड़े विद्वानों ने भी उस पर विचार नहीं किया। विद्वानों का दूसरा वर्ग यह मानता है कि आल्हखण्ड पृथ्वीराज रासो का एक भाग था, जिसे अल्हैतों द्वारा आल्हखण्ड के रूप में विकसित कर दिया गया है। पृथ्वीराज रासो के महोबा समय की कथा दिल्ली का पक्ष लेकर लिखी गयी है, जबकि आल्हखण्ड में महोबा का पक्ष लिया गया है।

इसी तरह की और भी भ्रांतियां हो सकती हैं, लेकिन मेरा आग्रह है कि जो भी निष्कर्ष या निर्णय लिए जाएं, ग्रंथों पर पूरा विचार करने के बाद। वस्तुत: आल्हखण्ड के संदर्भ में परमाल रासो, महोबा समय, आल्ह राइछो आदि ग्रंथों के साथ बुन्देलखण्ड की दीर्घ रासो-परम्परा के अध्याहार की आवश्यकता है। मध्ययुग के इस जनपद के अन्य वीरकाव्यों में भी आल्हा-ऊदल के कुछ प्रसंगों का वर्णन मिलता है, आल्हखण्ड के रचनाकार के प्रति श्रद्धा का उल्लेख हुआ है, उन सब को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। आल्हखण्ड के बाद की लिखित और मौखिक आल्हा-परम्परा, आल्हखण्ड की बुन्देली,

कन्नौजी, भोजपुरी, अवधी आदि लोकभाषाओं की वर्णनाएँ तथा अल्हैतों की लम्बी परम्परा से प्रचलित लिखित वर्णनाएँ सभी के सूक्ष्म परीक्षण से किसी निश्चय पर पहुँचा जा सकता है। साथ ही तत्कालीन इतिहास और संस्कृति का पूरा-पूरा अध्ययन भी अपेक्षित है। आशय यह है कि पूर्ण परिज्ञान के बिना कोई भी निर्णय लेना उचित नहीं है।

● प्रचलित रूप

आल्हखण्ड के विविध रूप प्रचलित हैं। एक तरफ हैं प्रकाशित आल्हखण्ड, जिनमें मनमाना रूपान्तरण और विस्तार है और जिन्हें अनजान पाठक पढ़ता-गाता है तथा अशिक्षित ग्रामवासियों को सुनाकर उन्हें इसी रूप का आदी बनाता है; तो दूसरी तरफ हैं अल्हैतों द्वारा रचे गये आल्हा, जो प्रत्येक अल्हैत कवि की व्यक्तिगत प्रतिभा पर आधारित हैं और गुरु से शिष्य तक कुछ घटबढ़ कर अभी तक चले आ रहे हैं। तीसरा रूप है लोक प्रचलित आल्हा या सैरा, जो बहुत पहले से लोक के मुख में जीवित रहा है और जिसमें हर समय कुछ न कुछ रूपान्तर हुआ होगा। चौथा रूप है मिश्रित आल्हा, जिसमें कुछ पुरानी सखियाँ, वीररसपरक छंद, स्वरचित वर्णनात्मक या शृंगारपरक छंद, पृथ्वीराजरासो या परमालरासो के चुने छन्द आदि के साथ आल्हखण्ड के आल्ह छन्दों को गाया जाता है। पाँचवें रूप में किसी प्रसिद्ध कवि जैसे शिवु दा कमरिया या नवलसिंह प्रधान रचित आल्हा लोकप्रिय है और स्थान-विशेष के अल्हैत उसे ही अपनी विशिष्ट गायन शैली से गाते हैं। इस तरह कई रूप केवल बुन्देलखण्ड में (अन्य जनपदों के बारे में मुझे पूरी जानकारी नही है) यत्रतत्र आज भी प्रचलन में हैं।

इन रूपों में किसे प्रामाणिक माना जाय, यह खोज का विषय है और लोक को सही या असली 'आल्हा' से अवगत करा के उसके भ्रम को दूर करने की समस्या सुलझाई जाय, यह अध्यवसाय का काम है।

● मूल रूप की खोज

आल्हखण्ड के मूल रूप की खोज करना एक टेढ़ी समस्या है, जिस पर विस्तार से विचार करना जरूरी है। सबसे पहले तो यह निश्चित करना पड़ेगा कि आल्हखण्ड मूल रूप में प्रबन्ध है या गीत या लोकगाथा। कुछ विद्वानों की धारणा है कि वह गीतात्मक रूप में लिखा गया था और कुछ उसे प्रबंध-पद्धति में रचा मानते हैं। आल्हखंड के कथानक से यह सिद्ध है कि उसका मूल रूप तो प्रबंध काव्य का ही है क्योंकि इसके समर्थन में कुछ तर्क इसकी पुष्टि करते हैं। पहला तो यह कि जगनिक ने प्रत्यक्षदर्शी

ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाकर काव्य-रचना की है, अतएव उसे लोकगाथा नहीं कहा जा सकता और गीतों में इतना विस्तृत कथानक अमाना बहुत मुश्किल है। दूसरे, यदि यह साहित्यिक प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखा गया होता, तो इसका लोकमुख में जीवित होना संभव न होता। इसलिए मैं तो यही मानता हूं कि आल्हखंड लोककवि जगनिक द्वारा लोककाव्य की शैली में रचा गया लोक प्रबन्ध है। बुन्देलखंड जनपद में आदि काल से लेकर वर्तमान तक निरन्तर प्रवहमान लोककाव्य-परम्परा के दर्शन होते हैं, यहाँ तक कि रासो तक बुन्देली भाषा और लोककाव्यात्मक शैली में रचे गए हैं। मध्य-काल में लिखे अनेक कटक, समो और लड़ाई इस बात के प्रमाण हैं कि इति-हास और वीररसपरक कथा का लेखन लोककाव्य में होता था और गायक गाँव-गाँव जाकर उनको सुनाते थे। जगनिक ने भी अपने लोकप्रबन्ध को लोक के सामने गा-गाकर सुनाया होगा और तभी आल्हखंड लोकमुख में समाया होगा। दरअसल आल्हखंड की लोकप्रियता का प्रमुख कारण उसकी लोका-नुभूति, लोकाभिव्यक्ति और संगीतात्मकता थी।

वर्तमान के लोक प्रचलित विविध रूपों में आल्हखंड के मूल रूप को खोजना अत्यंत कठिन है, फिर भी उनमें एक ऐसी समानता भी दिखलाई पड़ती है जिससे पुराने जनप्रचलित रूप का पता चल सकता है। इस रूप के निर्धारण के लिए वस्तु, भाषा, शैली और छन्द की दृष्टि से एक निश्चित कसौटी आवश्यक है। आल्हखण्ड के सभी युद्ध-वर्णनों में कुछ ऐसी कथानकरूढ़ियों का प्रयोग किया गया है, जिनके विश्लेषण से एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। विविध रूपों की वस्तु में एक अद्भुत समानता है, जिसे आसानी से परखा जा सकता है। यह भी सही है कि मूल आल्हखंड की भाषा बुन्देली (बनाफरी) थी, जो तत्कालीन मध्यदेशीया के निकट और अपभ्रंश से दूर थी। इसी प्रकार उसकी शैली लोककाव्यात्मक थी और वह आल्ह छन्द में लिखा गया था। आल्हखंड के प्रारम्भिक छन्द में उल्लेख है—

श्री गनेस गुरुपद सुमरि, इस्ट देव मन लाय।
आल्हखंड बरनन करत, आल्हा छन्द बनाय॥

इन आधारों पर कम से कम ऐसे लोकरूप को सामने लाया जा सकता है, जो मूल रूप के अधिक निकट हो।

● विविध वर्णनाएँ

इस लोकप्रबन्ध की विकसनशीलता जहाँ लोकप्रचलित रूपों में दिखाई पड़ती है, वहाँ विविध लोकभाषाओं की वर्णनाओं में भी। कन्नौजी, अवधी,

भोजपुरी, बघेली, बैसवाड़ी, भदावरी आदि विभिन्न बोलियों में उसकी वर्णनाएँ मिलती हैं। विभिन्न वर्णनाओं के तुलनात्मक अनुशीलन से आल्हखंड की लोक द्वारा गृहीतवस्तु का निराकरण किया जा सकता है। यह सहज स्वाभाविक है कि उनमें क्षेत्रीय तत्वों की समाहिति इतने परिमाण में और इतनी घनिष्ठता से हुई है कि उन्हें अलग करना बहुत मुश्किल है, लेकिन एक ही तरह की वस्तु में विविध क्षेत्रीय संस्कृतियों का मेल यह सिद्ध करता है कि आल्हखंड एक सार्वभौमिक कृति है, जिसकी लोकप्रियता स्थल और काल से परे हो गई है। बहरहाल वर्णनाओं के अध्ययन से परिवर्तन की प्रक्रिया, वस्तु के सर्व-सामान्य लोकतत्व आदि के सम्बन्ध में कुछ सर्वमान्य निर्णय अवश्य निकलेंगे, जो आल्हखंड की लोकप्रियता के प्रतिमानों में अपना स्थान सुरक्षित रखने के अधिकारी होंगे।

● समीक्षा के कुछ जटिल प्रश्न

समीक्षकों के सामने सबसे कठिन प्रश्न यह है कि किसकी समीक्षा की जाय। मूल प्रति तो उपलब्ध नहीं है, लोक प्रचलित रूप अवश्य मिलते हैं। उन्हीं का पाठ-सम्पादन कर एक सर्वसामान्य पाठ का प्रकाशन जरूरी है। इस कार्य में मैं लगा हूँ और यथासमय उसकी पूर्ति करूंगा। बुन्देली (बनाफरी) वर्णना के जितने विविध रूप मिलेंगे और साथ ही वे जितने प्राचीन होंगे, उसका पाठ उतना ही प्रामाणिक होगा। लेकिन जब तक ऐसा पाठ सामने नहीं आता, तब तक किसी भी उपलब्ध पाठ को समीक्षा का विषय बनाया जा सकता है।

रचनाकार जगनिक के संबंध में भी मतभेद हैं, पर प्रामाणिक साक्ष्यों के आधार पर शोध को गति मिलती रहना जरूरी है। बनाफरी (बुन्देली) में लोक काव्य रचने वाला कवि बनाफरी क्षेत्र का ही रहा होगा, इसमें विवाद की गुंजाइश कम है। इसी प्रकार जब एक प्राचीन ग्रंथ में कवि को भाट कहा गया है, तब उसे क्षत्रिय मानना भ्रमपूर्ण ही होगा। समीक्षा के अन्य विषयों जैसे ऐतिहासिकता, कथावस्तु, कथानकरूढ़ियाँ, पात्र-योजना, भाव-सौष्ठव, भाषा, काव्यरूप आदि पर एक ही पाठ लेकर गहराई से विचार किया जाना सर्वथा उचित और उपादेय रहेगा। लोकगाथा या पँवाड़े की दृष्टि से उसे परखने में कोई हर्ज नहीं है। वस्तुतः जितने पाठों की समीक्षा जितनी विविधता से होगी, आल्हखण्ड की मूलभूत विशेषताएं, सीमाएं और शक्ति प्रकाश में आ सकेंगी।

अनुशीलन के दौरान यह सावधानी अवश्य बरतनी होगी कि लोककाव्य की समीक्षा लोककाव्य की दृष्टि से की जाय। लोककाव्य का अपना काव्य-

शास्त्र होता है, उसी के मापदण्डों पर आल्हखण्ड की परीक्षा हो सकती है। अक्सर साहित्य के पंडित लोककाव्य को बहुत हल्की और सस्ती वस्तु समझते हैं अथवा अपने बँधे-बँधाये पैमानों से नापजोख करते हैं, जबकि लोककाव्य अपनी सारी सीमाओं और शक्तियों के कारण ही लोककाव्य है। उसमें यदि किसी पंक्ति की बार-बार आवृत्ति होती है, तो वही किसी आँख को खटकती है, पर वही उसकी विशेषता भी है।

- **आल्हा-गायकी**

बुंदेलखण्ड में आल्हा-गायकी के विविध रूप हैं। दतिया, सागर, महोबा पुछीकरगवाँ सबकी गायकी अलग-अलग है। दतिया-गायकी संगीत प्रधान है, उसमें साखी, चौपड़ी, लड़ाई आदि में अलग-अलग धुनों का प्रयोग किया जाता है। सारंगी या हारमोनियम, खड़ताल और मृदंग वाद्यों से भी आल्हा-गान संगीतात्मक हो जाता है। महोबा की गायकी में संगीत की तरफ दृष्टि नहीं रहती, ढोलक और मंजीरा केवल सहारे के लिए होते हैं, लेकिन गायक पहले मध्य लय और फिर ज्यादातर द्रुत लय में 'वीर' रस की अभिव्यक्ति करता है। साखी घत्ता या विराम के लिए प्रयुक्त होती है। इस प्रकार उसमें दतिया-गायकी की तरह संगीत की विविधता और कोमलता नहीं रहती, वरन् उसकी प्रकृति ओजस्वी है। सागर की गायकी में भी उतनी ओजस्विता नहीं है। उसमें स्वर का उतना आरोह और लय की उतनी द्रुति नहीं होती, जितनी महोबा गायकी में। पुछीकरगवाँ के गायक शिवू दा कमरिया का आल्हा मध्य लय में ही गाते हैं। उनकी गायकी में विविध लयों का प्रयोग नहीं रहता, फिर भी संगीतात्मकता की तरफ उसका लगाव स्पष्ट है। मतलब यह है कि आल्हा-गायकी के विभिन्न रूपों की सही पहिचान निर्धारित की जानी चाहिए। स्वर-लिपियाँ भी जानकारी में रहना जरूरी है, ताकि पुरानी गायकी या उसके पारम्परिक स्वरूप का अस्तित्व नष्ट न हो जाय।

गायकी के रूप-निर्धारण में लोकगायकी की प्रवृत्तियों को ही केन्द्र में रखा जाय, नहीं तो शास्त्रीय संगीत के बहकावे में आकर लोकसंगीत की अस्मिता ही खतरे में पड़ सकती है। कुछ पूर्वनिश्चित रागों या तालों के आधार पर लोकसंगीत की पैमाइश अनुचित है।

- **कुछ खास मुद्दे**

आल्हखण्ड की सही पहचान बनाने के लिए कुछ खास तथ्य भी अपने सोच के लिए जरूरी है। पहला तो यह है कि उसका रचनाकार राजा (चंदेल-नरेश परमर्दिदेव) के आश्रित होता हुआ भी उसकी प्रशस्ति में या उसे प्रसन्न

करने या उसके मनोरंजन के लिए काव्य-रचना नहीं करता, वरन् सच्चे शूरवीरों की गाथा गाता है। हिन्दी के आदि काल में ऐसा कवि-कर्म दुर्लभ-सा था। यहाँ तक कि भूषण और लाल कवि जैसे राष्ट्रीय कवि भी आश्रयदाता की प्रशस्ति करने से नहीं बचे। अतएव आल्हखण्ड के रचनाकार के व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन अपेक्षित है।

दूसरा यह कि आल्हखण्ड हिन्दी का प्रथम काव्यग्रंथ है। विद्वानों ने जिन ग्रंथों को प्रथम सिद्ध करने की कोशिश की है, उन्हें दूसरों ने अपभ्रंश कहकर असिद्ध किया है। वास्तव में हिन्दी का उदय पहले बोलियों के रूप में हुआ था, अतएव बोली का या लोकभाषा का ग्रंथ ही उसका पहला ग्रंथ रहा होगा। फिर अनेक विद्वानों की इस खोज में सहमति है कि मध्यदेश में मध्यदेशीया के रूप में उसका प्रथम उद्भव हुआ और आल्हखण्ड मध्यदेशीया बुन्देली की ही रचना है, यह भी उसके पक्ष में है। इसलिए इतिहासकारों को इसे मानने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए।

तीसरे, लोकप्रियता में आल्हखण्ड क्षेत्रीय परिधियों से परे पूरे देश में फैल गया है। उसकी अन्य लोकभाषाओं की वर्णनाएं इसका प्रमाण हैं कि उनके लोक में वह उतना ही लोकप्रिय है, जितना बुन्देलखण्ड जनपद में। तुलसी की रामचरित मानस के विरुद्ध तो कुछ सवाल उठने लगे हैं, पर आल्हखण्ड को प्रत्येक वर्ग, धर्म और जाति के लोगों ने अपना लिया है। आखिर ऐसी सार्वभौमिक और सार्वकालिक प्रसिद्धि का कारण क्या है, इसकी खोज भी आवश्यक है।

लोक ने ही नहीं, विद्वानों के वर्ग ने भी आल्हखंड को उतना ही प्रेरणाप्रद माना है। वह उनके काव्य का प्रेरणास्रोत बनकर उपजीव्य ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है। उसकी वस्तु, भाषा-शैली, छन्दबन्ध आदि का प्रभाव अपरिमित है। मध्ययुग के रासो और चरित काव्य, भक्तिमूलक प्रबन्ध और प्रेमाख्यानक काव्य तथा रीतिश्रृंगारपरक काव्यशैलियाँ आल्हखंड से प्रभावित हुई हैं, यहाँ तक कि आल्हखंड की शैली में लिखे जाने के कारण ग्रन्थों का नामकरण 'आल्ह' लगाकर किया गया जैसे आल्ह रामायण, आल्हा भारत आदि। वर्तमान काल में अनेक खंडकाव्य, नाटक और उपन्यास रचे गए तथा वर्तमान विषयों जैसे चुनाव आदि के बारे में 'आल्हा' की शैली आज भी लोकप्रिय है। आल्हखंड की लिखित और मौखिक परम्परा का तो पार ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि हिन्दी काव्य और अन्य विधाओं पर आल्हखंड के प्रभाव की खोज एक लम्बा आख्यान है।

आल्हखण्ड की लिखित परम्परा में दो धाराएँ हैं। एक तो वह जो आल्हखंड को वस्तु और शैली दोनों का अनुसरण करती है और आल्हखंड की तरह होकर भी उससे स्वतंत्र इसलिए है कि उसमें हरेक कवि ने अपनी मौलिकता का योग किया है। इसमें शिवू दा कमरिया (पुछीकरगवाँ) और देशराज भट्ट (जिगनी) के नाम प्रसिद्ध हैं, ऐसे रचनाकारों और उनकी कृतियों को प्रकाश में लाकर पूरी परम्परा का चित्र सामने लाने का प्रयत्न किया जाना शेष है। दूसरी वह है जिसमें कवियों ने आल्हखण्ड की वस्तु के आधार पर स्वतन्त्र रचनाएँ की हैं। इस परम्परा में महोबा समय, परमालरासो, आल्ह राइछो, वीर विलास आदि मध्ययुग की तथा महोबा खण्डकाव्य, ऊदल नाटक, आल्हा उपन्यास आदि आधुनिक युग की न जाने कितनी कृतियाँ आती हैं। उन सबका मूल्यांकन होना है।

दूसरी परम्परा है मौखिक जो अल्हैतों और लोक दोनों में सुरक्षित है। अल्हैतों की अपनी अलग-अलग परम्परा गुरु से शिष्य तक चलती हुई आज तक बनी हुई है। उसके सर्वेक्षण से कई रहस्य खुल सकते हैं। एक अल्हैत से साक्षात्कार करने पर ज्ञात हुआ कि पीरासाईं चतेला एक पुराने अल्हैत थे, जिनके चार शिष्य हुए—कालीसिंह कलियां, ताँतीसिंह उमरी, घनीराम ब्रह्मभट्ट बैहारी और भीखा अहीर ग्यूंडो। फिर उनके शिष्यों की अलग-अलग शाखाएँ चलीं। यह इस प्रकार गुरु से शिष्य से चला आता दाय आज तक जीवित रह सका है। बात अलग है कि हर अल्हैत केवल अनुकरणकर्ता नहीं है, वरन् वह परिवर्द्धनकर्ता भी है।

अंतिम मसला है फड़बाजी का। १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में जब फाग, सैर आदि की फड़बाजी उत्कर्ष पर पहुँची, तब 'आल्हा' की फड़बाजी शुरू हुई। फड़ों में आमने-सामने खुली प्रतिद्वन्द्विता होती है, पर उसमें एक ही अल्हैत रहता है और एक के बाद दूसरा आता है। हर गुरु अल्हैत का अपना अखाड़ा-सा होता है जो प्रतियोगी भावना से गायन करता है। इस वजह से नये-नये चमत्कारपूर्ण वर्णनों को बीच-बीच में ठूँसने की होड़-सी लग गई है। सन् १९४८ ई० के लगभग चरखारी के मेले में प्रसिद्ध अल्हैत शिवरामसिंह ने अपने ऊदल-विवाह के प्रसंग में छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णनों की ऐसी लड़ी पिरोई थी कि श्रोता मन्त्रमुग्ध-सा बैठा रहा था। आल्हखण्ड की इस फड़बाजी और प्रभावक्षमता पर भी ध्यान रखना अनिवार्य-सा है, क्योंकि आल्हखण्ड की प्रेषणीयता और प्रभावशालिता की असाधारण शक्ति ने ही उसे जन-जन का काव्य बना दिया है।

● प्रासंगिकता का सवाल

आजकल किसी भी कवि की रचना के बारे में प्रासंगिकता के सवाल उठाने का एक दौर-सा चल पड़ा है। अभी जब बीस-तीस साल पहले जीवित साहित्यकारों की रचनाओं की प्रासंगिकता खोजी जा रही है, तब १२वीं शती की कृति आल्हखण्ड के संबंध में यह प्रश्न पूछा जा सकता है। इसके उत्तर में यदि एक सवाल और उठ खड़ा हो कि 'आल्हा' को आज भी लोक क्यों अपना रहा है, तो शायद सारा कुहरा अपने-आप साफ हो जाय। आल्हखण्ड ऊर्जा का महाकाव्य है। उसमें रेखांकित व्यक्तिगत वीरता का इतना तीव्र वेग और अबाध प्रवाह है कि वह तत्कालीन परिस्थितियों और सन्दर्भों को लाँघ कर सार्वकालिक और सार्वभौमिक बन गया है। उसके नायक-आल्हा-ऊदल अपनी वीरता की आदर्श ऊँचाई के कारण समाज की शक्ति-चेतना के स्फूर्तिकेन्द्र हो गए हैं। फलस्वरूप उसकी जीवनी शक्ति लोक की बन गई है और आज का लोक भी उससे प्रेरणा पाकर अपने अंदर फूटती ओजस्विता महसूस करता है। आज के नैराश्य और अनास्था के युग में साहस और उल्लास के स्वरों का जितना महत्व है, उतना ही आल्हखण्ड के संदेश का। परिस्थितियों और जीवन की विषमताओं से जूझने की जब तक जरूरत है, आल्हखण्ड का जुझारू शौर्य तब तक अपनी अस्मिगता बनाये रखेगा।

विचित्रता तो यह है कि आल्हखण्ड देशगत सीमाएँ भी पार कर गया है। डा० ग्रियर्सन ने लिखा था कि उसने अंग्रेजों को संस्कृत के कृत्रिम महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक प्रभावित किया है। आजकल तो लोकप्रिय महाकाव्यों जैसे तुलसी की रामचरित मानस तक की प्रभावक्षमता पर प्रश्नचिन्ह लगने लगे हैं, पर आल्हखंड का प्रभाव लोक पर ऐसे छाया है कि वह बाहर का न होकर भीतर का लगता है। मैं समझता हूँ कि आल्हखंड अपनी भीतरी ऊर्जा और असाधारण प्रेषणीयता के कारण लोक को सदैव ऊर्जस्वित करता रहेगा, इसलिए उसकी उपादेयता हर समय असंदिग्ध रहेगी।

पृष्ठ-भूमि

वत्सराज के रूपकों में सांस्कृतिक चेतना

डॉ० अयोध्या प्रसाद द्विवेदी

यदि संस्कृति मानव-मन के विकास का उदग्र आयाम है; मानवी अन्तश्चेतना का परिष्कृत प्रकाश है; उसके आचार-विचार, रुचियों, संस्कारों का सर्वोत्तम परिचय है, तो इस तथ्य को भी स्वीकारना होगा कि संस्कृति का अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय एवं आंचलिक स्वरूप भी होता है। यह भी सर्वविदित तथ्य है कि प्रचीन भारतीय संस्कृति का विपुलांश संस्कृतभाषा और उसके साहित्य में सुरक्षित है।[1] ऐसा इसलिए, क्योंकि; चाहे जिस भाषा या प्रवृत्ति का कवि या कलाकार हो, उसकी साधना युगीन सामाजिक बोध एवं सांस्कृतिक चेतना से असंस्पृष्ट रह नहीं सकती। यही कारण है कि वैदिक कवि, इन्द्र-वृत्र के युद्ध का काव्यात्मक गुम्फन करता है, तो वह जुआड़ी की दयनीय दशा का चित्र भी खींचता है, और 'अक्ष' के अतिरिक्त 'पर्जन्य', 'मण्डूक' आदि जैसे सामाजिक सन्दर्भों से जुड़े विषयों को अपने काव्य के लिए चुनता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि संस्कृत साहित्य अपनी इसी सामाजिक तथा सांस्कृतिक जागरूकता के कारण वैदिककाल से लेकर अद्यावधि समाज एवं राष्ट्र से सम्बद्ध रहा है। और, साहित्य के इसी पक्ष को ध्यान में रखकर भारतीय काव्याचार्यों ने भी कवि के लिए 'लोकाचारपरिज्ञान' को अनिवार्य बताया था[2]। अस्तु, जीवन और जगत् के यथार्थ से अनुप्राणित होने के कारण साहित्य, संस्कृति का अविच्छिन्न अंग है।

१—'संस्कृत हमारी जनता के विचार और धर्म का ही प्रतीक नहीं बनी, वरन्, भारत की सांस्कृतिक एकता भी उसी भाषा में साकार हुई,। (पं० जवाहरलाल नेहरू, प्रस्तावना, पृ०१३, 'दिनकर' के 'संस्कृति के चार अध्याय' से।)

२—[क] 'लोकाचारपरिज्ञानं विविक्ताख्यायिकारसः।
इतिहासानुसरणं चारुचित्रनिरीक्षणम् ॥' २।६॥ (क्षेमेन्द्र—कवि-'कण्ठाभरण')

[ख] 'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्' ॥ १।२१॥ (भामह—काव्यालंकार')

[ग] 'लोक—शास्त्र—काव्याद्यवेक्षणात्'। १।३(मम्मट—'काव्यप्रकाश')
'लोकस्य—स्थावरजंगमात्मकस्य लोकवृत्तस्य'—(वही, वृत्ति)

महामात्य वत्सराज—संस्कृति, कला और संस्कृत साहित्य के विकास एवं संवर्धन की दृष्टि से उज्जयिनी, धारा, विदिशा, दशपुर, ग्वालियर, रीवा आदि राजधानियों की ही भाँति बुन्देलखण्ड के इस अंचल के खजुराहो, ओरछा, महोबा, पन्ना और कालिंजर आदि स्थानों का भी विशेष महत्त्व रहा है। अट्ठारहवीं शती के बुन्देलखण्ड के शासक सभासिंह के सभापण्डित श्री शंकर दीक्षित, ओरछा के वीरदेवसिंह के आश्रय में सम्मानित श्री मित्रमिश्र और इससे भी पूर्व ग्यारहवीं शती के मध्यभाग में चन्देलवंशीय राजा कीर्तिवर्मा के आश्रित कवि कृष्णमिश्र आदि विद्वानों की कृतियाँ इसमें प्रमाण हैं। इसी परम्परा में चन्देलकालीन बुन्देलखण्ड के सबसे बड़े संस्कृत-साधक वत्सराज का नाम आता है। वत्सराज कालिंजर के राजा परमर्दिदेव के अमात्य थे तथा उनके पुत्र त्रैलोक्यवर्मदेव के समय में भी उसी पद पर प्रतिष्ठित रहे। परमर्दिदेव का समय ११६५ ई० से १२०३ ई० तक एवं उनके पुत्र त्रैलोक्यवर्मदेव का समय १३वीं शती का मध्यभाग तक माना जाता है। अतः, महामात्य वत्सराज का समय १२वीं शती का उत्तरार्द्ध तथा १३वीं शती का पूर्वार्द्ध स्थिर होता है।

रूपक-परिचय – कवि वत्सराज द्वारा प्रणीत संस्कृत के छः रूपक 'रूपकषट्कम्' नाम से 'गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज,' बड़ौदा से प्रकाशित हुए हैं। इस प्रकाशन से संस्कृतनाट्यसाहित्य की एक बहुत बड़ी रिक्तता की पूर्ति हो गई। संस्कृत के काव्याचार्यों ने रूपकों के जो दश भेद गिनाए थे जैसे, नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन; उनमें से नाटकादि भेद तो उपलब्ध थे, किन्तु 'ईहामृग,' 'डिम' तथा 'समवकार' के उदाहरण अप्राप्त थे। केवल लक्षण ग्रन्थों में ही उनके लक्षण मिलते थे। वत्सराज के 'रूपकषट्कम्' के प्रकाश में आने से इस क्षति की पूर्ति हो गई। संस्कृतनाट्यसाहित्य को महामात्य कविवर वत्सराज की यह अनुपम देन कही जाएगी और वह सौभाग्य मिला इस बुन्देलखण्ड क्षेत्र को, जहाँ की उर्वरा धरती ने वत्सराज जैसा प्रतिभाशाली सरस्वतीपुत्र जनमाया।

वत्सराज के ये छः रूपक हैं—कर्पूरचरित, हास्यचूडामणि, त्रिपुरदाह, किरातार्जुनीय, समुद्रमथन और रुक्मिण-परिणय। 'कर्पूरचरित' भाण है। इसमें एक जुआरी की द्यूतक्रीड़ा का तथा वेश्या के साथ उसकी प्रणयलीला का सजीव वर्णन है। 'हास्यचूडामणि' प्रहसन कोटि का रूपक है। इसमें दो अंक हैं। तत्कालीन सामाजिक दम्भ और आडम्बरपूर्ण घातक दुष्प्रवृत्तियों का भण्डाफोड़ करने के लिए कवि ने इसका प्रणयन किया है। इसमें 'ज्ञानराशि' नामक एक आचार्य की खूब दिल्लगी उड़ाई गई है। इस आचार्य को 'केवली'

विद्या आती थी, जिसके सहारे वह गड़े हुए धन को तथा विस्मृत वस्तुओं का, चोरी आदि का पता लगाया करता था। आध्यात्मिक रहस्य का उपयोग भौतिक एषणाओं पूर्ति के लिए करना सबसे बड़ी विडम्बना है; चारित्रिक पतन है; ज्ञानसम्पद् का दुरुपयोग है—इसी भाव की व्यंजना कवि ने इस प्रहसन के माध्यम से की है। 'त्रिपुरदाह' चार अंकों का एक 'डिम' है। इसमें भगवान् शंकर द्वारा त्रिपुर—विनाश का प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान उपनिबद्ध है। 'किरातार्जुनीय' व्यायोगकोटि का रूपक है। इसमें एक ही अंक होता है। यह एकांकी रूपक भारविकृत 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य के प्रसिद्ध पौराणिक कथानक की कथावस्तु पर रचित है, जिसमें अर्जुन और किरातवेशधारी शिव का परस्पर युद्ध दिखाया गया है। 'समुद्रमथन' तीन अंकों का समवकार रूपक है। इसमें सुर और असुरों द्वारा समुद्र के मन्थन की प्रख्यात घटना का विस्तृत चित्रण है। 'रुक्मिणी—परिणय' ईहामृग है। इसमें चार अंक हैं। इसकी कथावस्तु महाभारत और भागवतपुराण के रुक्मिणी-हरण प्रसंग से गृहीत है। मृग के समान अलभ्य किसी नायिका की अभिलाषा करने के कारण रूपक की इस विधा को 'ईहामृग' कहा जाता है। प्रस्तुत रूपक में चेदिराज शिशुपाल अलभ्य नायिका रुक्मिणी के लिए ऐसी ही अभिलाषा करता है। कथानक संघर्ष से भरा है। वत्सराज का यह 'रुक्मिणी-परिणय', ईहामृग का एकमात्र उपलब्ध उदाहरण है।

रूपककार वत्सराज की सारस्वत—साधना उनकी प्रवाहपूर्ण स्वाभाविक रसमय अभिव्यक्ति के कारण समधिक सम्प्रेषणीय बन पड़ी है। कवि स्वयं अपना परिचय यह कह कर दिया है—'रसपरवशवाणीवत्सलो वत्सराजः' (हा० चू० १/५), जिसमें किसी प्रकार का दर्प नहीं है। यह वत्सराज के काव्यशिल्प का निष्पक्ष मूल्यांकन है। रूपककार का काव्यसौष्ठव, नाट्यशास्त्रीय शिल्प तो उत्तम है ही, किन्तु संस्कृतनाट्यपरम्परा के समर्थ कलाकार एवं बुन्देलखण्ड की संस्कृत-साधना के उत्तुंग शिखर वत्सराज की लेखनी से निःसृत उक्त छः रूपकों में जो सांस्कृतिक परिवेश तथा सामाजिक चित्र उभरा है, उससे कवि की विशिष्ट लोकचेतना, उसका असामान्य सामाजिक बोध परिलक्षित होता है। वस्तुतः, स्वयं अमात्य पद पर प्रतिष्ठित होने के नाते कवि का राजकार्य से तो सम्बन्ध था ही, जनता से भी सीधा सम्बन्ध था। उसने अपने आँखों तत्कालीन भारत की युजंर्दर दशा को देखा था। यही कारण है कि कवि की काव्यकला अनायास ही उसकी सांस्कृतिक चेतना से विशेष मुखरित हो उठी है। कवि के रूपकों में प्रतिच्छायित उसकी सांस्कृतिक

चेतना से परिचित होने के पूर्व यह समीचीन होगा, कि तत्कालीन सामाजिक दशा एवं परिस्थितियों पर एक हल्की दृष्टि डाली जाए!

चन्देल राजवंश-परम्परा और तत्कालीन परिस्थितियाँ—कालंजर का दुर्ग अपनी राजनीतिक महत्ता के कारण सम्पूर्ण भारतवर्ष में बहुत प्रख्यात रहा है। यही कारण है कि मध्यकाल का प्रत्येक महत्वाकांक्षी शासक इस पर अपना अधिकार करना चाहता था। इसलिए चन्देलवंशी नरेशों के लिए यह बहुत स्वाभाविक था कि वे इस दुर्ग पर अपना अधिकार करके अपनी बढ़ती शक्ति तथा आधिपत्य का परिचय दें। यह कार्य चन्देलवंशी प्रतापी नरेश यशोवर्मन् ने किया। सम्वत् १०११ का खजुराहो—अभिलेख इसमें साक्ष्य है कि 'राज समाज के अग्रणी यशोवर्मन् ने सरलता से ही शंकर के निवासभूत कालंजरगिरि पर विजय प्राप्त कर ली जो इतना ऊँचा था कि मध्याह्न में भी सूर्य की गति को बाधित करता था'।[३] सन् ६५० के बाद यशोवर्मन् का यशस्वी पुत्र धंग राज्यासीन हुआ और इस प्रकार 'कालंजराधिपति' का स्पृहणीय विरुद पूरूर्णप से चन्देलनरेशों को प्राप्त हो गया। उस समय के राजकीय शौर्य और उत्कर्ष के प्रतीक इस क्षेत्र की तीनों महत्वपूर्ण राजधानियों—कालंजर, महोबा और खुजराहो पर प्रतापी नरेश धंग का आधिपत्य स्थापित हो गया। दशवीं शती का यही काल सांस्कृतिक निर्माण की दृष्टि से उत्कर्ष का काल था, जिसके प्रमाण हैं सम्पूर्ण विश्व में अपना वैभव बिखेरती, चन्देलवंशी नरेशों के कलाप्रेम का गीत गाती खजुराहो की जीवंत मूर्तियाँ! तब से लेकर अनेकों उत्थान-पतन और संघर्ष की विभीषिकाओं से झुलसती चन्देलराज्यश्री धंग के बाद क्रमशः गंड, विद्याधर, विजयपालदेव, देववर्मन्देव, कीर्तिवर्मन्देव, सल्लक्षणवर्मन्देव, जयवर्मन्, पृथ्वीवर्मन् से होती अत्यन्त प्रभावकारी प्रशासक मदनवर्मन् देव को पाकर हर्षित हुई। मदनवर्मन् का शासनकाल सन् ११२९ ई० से ११६५ तक माना जाता है। इसके बाद आता है परमर्दिदेव का शासनकाल; जिसके अमात्य वत्सराज ने प्रस्तुत रूपकों की रचना की। परमर्दिदेव के उत्तराधिकारी त्रैलोक्यवर्मदेव का शासनकाल लगभग सन् १२०५ से सन् १२४१ तक था। वत्सराज के रूपकों में केवल 'किरातार्जुनीयव्यायोग' त्रैलोक्यवर्मदेव के शासन-

३. चन्देल और उनका राजत्वकाल, पृ० ७३।

काल में अभिनीत हुआ।[४] शेष पाँच रूपकों का सम्बन्ध परमर्दिदेव के साथ संकेतित किया गया है।[५] इससे स्पष्ट है कि वत्सराज का अधिकांश कार्यकाल परमर्दिदेव के समय था।

मदनवर्मा की भांति परमर्दिदेव भी अतिशय वैभवपूर्ण जीवन बिताने के आदी थे। 'प्रबन्धचिन्तामणि' के अनुसार भोजन परोसते समय किसी त्रुटि के कारण क्रुद्ध होकर प्रायः रोज एक-न-एक रसोइया को वे तलवार से मौत के घाट उतारते थे, जिसके कारण उन्हें 'कोपकालानल' की उपाधि मिल गई थी।[६] लेकिन, इसका कोई संकेत 'रूपकषट्कम्' में नहीं मिलता। रूपकों के अनुसार परमर्दिदेव अतिशय दानी,[७] कला, नाट्याभिनय, साहित्य[८] में विशेष अभिरुचि रखने वाले यशस्वी प्रशासक थे।

---

४. 'वीररसैकवासनावासितोऽयं कालञ्जराधिपतिस्त्रैलोक्यवर्मदेवः
कविवत्सराजविरचितं किरातार्जुनीयं नाम व्यायोगमभिनेतुमा—
दिशति'। (किराता० व्या०, प्रस्तावना पृ० १)
तुलनीय—वीरवर्मन् (त्रैलोक्यवर्मदेव का उत्तराधिकारी) के अजयगढ़—
प्रस्तर अभिलेख में त्रैलोक्यवर्मदेव की तुलना विष्णु से की गई है यह
कहते हुए कि—'उसने तुर्क रूपी नदियों से बने समुद्र में डूबी पृथ्वी रूपी
साम्राज्य को उबारा:'—
'त्रैलोक्यमल्लश्च शशाम राज्यं प्रसिद्धदुर्गप्रविधानवेधाः।
तुरुष्ककुल्यास्वधिमग्नधात्रीसमुद्धृति विष्णुरिव प्रतन्वन्'॥
(चन्देल और उनका राजत्वकाल, पृ० १३४)

५. द्र०, रूपकषट्कम्, पृ० २३, ७६, ११८, १५०।

६. 'अथ परमर्दिनामा नृपो जगत्युदाहरणीभूतं परमैश्वर्यमनुभवन्....प्रतिदिन-
मेकैकं सूपकारमकृपः कृपाणिकया निघ्नन्''''कोपकालानल इति विरुदं
बभार'। पृ० २२६।

७. अनारतानपरम्पराभिर्निवेदमायाति कदाचिदुर्वी।
विभर्ति तत्पूर्वमिव प्रहर्षं मुहुःप्रदानैः परमर्दिराजः॥ (त्रिपुरदाह १।४)
युष्माभिर्यैगिपद्येन सर्वकामार्थसिद्धये।
परमर्दिनरेन्द्रो वा समुद्रो वा निषेव्यताम् (समुद्रमथन १।४)॥

८. 'अयमेव देवो रूपकनिरूपणानैपुणैकपात्रम्' तथा
'एष श्रीपरमर्दिदेवनृपतिर्निस्सीमविद्यानिधि—
र्नूनं वागधिदेवता भगवती पुम्भावमभ्यागता'॥ (रूपकषट्कम् पृ० ११६)॥

इस प्रकार, कालंजर लगभग नवीं शती से तेरहवीं शती तक कला और काव्य के अनुपम साहचर्य के साथ मध्यदेश की इस बुन्देली धरती का शौर्यकेन्द्र रहा है। लेकिन, मध्य-युगीन राजनीतिक परिस्थितियों पर दृष्टिपात करते हुए यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि इस बीच कई बार भयंकर तूफानों से कालंजर-शौर्यदीपक बुझते-बुझते बचा और चन्देलराज्यलक्ष्मी भी अपहृत होते-होते बची। इतिहास साक्षी है कि महाराज हर्ष के बाद भारत की एकता दम तोड़ चुकी थी। पूरा देश छोटे-छोटे टुकड़ों में विकेन्द्रित हो गया। राजपूत शासकों का परस्पर दौर्मनस्य और स्वार्थभरा संघर्ष अराजकता की स्थिति का कारण बना। फलस्वरूप, उत्तर-पश्चिम से चला तुर्क आक्रमणकारियों का प्रभंजन प्रबल प्रतिकार के अभाव में हिन्दू साम्राज्य को विनष्ट करता सारे देश में क्रमशः मुस्लिम साम्राज्य में बदल गया, किन्तु उन विषम परिस्थितियों में भी चन्देल शासकों ने मुसलमान आक्रमणकारियों का कठोर सामना करके अपनी संस्कृति और सत्ता की रक्षा के निमित्त पूरा प्रयत्न किया। ९८९ ई० में हिन्दूराज्य संघ में सम्मिलित होकर धंग ने सुबुक्तगीन से लड़ाई की थी। इसमें कालिंजर, अजमेर और दिल्ली के राजाओं ने पंजाब के नरेश जयपाल का साथ दिया था। १००८ ई० में हिन्दू संघ ने आनन्दपाल के साथ मिलकर महमूद गजनवी से युद्ध किया था। विद्याधर के शासनकाल में महमूद गजनवी ने दो बार कालिंजर पर आक्रमण किया। परमर्दिदेव को तो पृथ्वीराज चौहान के आक्रमण का सामना करना पड़ा था। १२०२ ई० में सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक ने कालंजर पर आक्रमण किया और इस बार उसे महोबा को अधिकृत करने में सफलता मिल गई।

शत्रु राजाओं द्वारा कालंजर पर आक्रमण का शताब्दियों का इतिहास वत्सराज के सामने था और अपने आँखों देखा था उन्होंने तत्कालीन समाज की अस्थिरता, अशान्ति, अन्याय, कदाचार, उत्पीड़न, राजाओं का दुराग्रहपूर्ण दम्भ, अन्योन्य कलह और नैतिक एवं चारित्रिक पतन इतना कि किसी रूपवती कन्या के गुणों को सुनकर उसको अपनाने के लिए छल-बल का प्रयोग करना, युद्ध करके खून खराबा करना और जैसे भी हो उसका अपहरण करना। मानो, यही उस समय शौर्य का प्रतीक था राजाओं का।[९] वत्सराज ने अपने

---

९. (क) 'दुःशीलो नाम शैलूषः कामपि कन्यां दुर्लभामन्यकामां समीहमानः
सम्बोध्य सम्बोध्य निषिध्यमानो विलम्बमियन्तं कारितवान्'—र० प०,
पृ० ३८। (क्रमशः)

२

रूपकों में इन संघर्षों का आभास दिया है। तत्कालीन समाज की विचित्र दशा थी। सर्वत्र युद्ध का उन्माद छाया रहता था। राज्य-विस्तार या कन्यापहरण निमित्त शौर्यप्रदर्शन की राजाओं की दुराग्रही प्रवृत्ति ने जैसे सब जगह से शान्ति का गला पकड़कर निकाल दिया हो :—

'दुष्टे बले बलीयसि संक्रामति शौर्यमस्मदाद्येऽपि ।
गलहस्तित इव सहसा निष्क्रामत्युपशमो हृदयात् ।।' (रुक्मिणीह०, २।८)

रूपकषट्कम् में चेदि वंश के शिशुपाल के साथ कृष्ण और बलराम के संघर्ष, रोष एवं युद्ध के बर्णन में चन्देल, चेदि और कलचुरियों की इतिहास-प्रसिद्ध पारस्परिक शत्रुता भी प्रतिध्वनित होती है। इतिहास की उस घटना का संकेत मिलता है जिसमें चन्देल शासकों ने चेदि तथा कलचुरियों को पराजित कर उनकी राजधानी त्रिपुरी पर अधिकार कर लिया था—[10]

'विध्वस्तस्त्रिपुरीपुरीपरिवृढः प्राप्तैव सा रुक्मिणी'। (रुक्मि० २।७)

सफल कलाकार परोक्षतः समय की अपेक्षाओं को दृष्टिगत करते हुए तदनुरूप सन्देश और उत्प्रेरणाएँ देते हैं। वत्सराज ने वही किया है। 'समुद्र-मथन' की संरचना मानो कवि ने राष्ट्रीय एकता—जो उस समय की अनिवार्य आवश्यकता थी और हमेशा रहेगी, का सन्देश देने के लिए ही की हो। जैसे उस समय के भारतीय राजाओं के लिए वत्सराज का यह उद्‌बोधन हो[11]—

'औदार्यशौर्यरसिकाः सुखयन्तु भूपाः'। (समुद्रमथन, ३।१४)

वत्सराज, रूपकषट्कम्, चन्देल नरेशों की परम्परा, तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से सामान्यतः परिचित होने के बाद, अब वत्सराज

(ख) 'अहो, बालिशत्वंशिशुपालस्य। यदयं मधुकैटभारिप्रेमसरसीराजहंसीं रुक्मिणीं निजमनोमरुमण्डले बलेन वासयितुमभिलषति'। रु० प०, पृ० ३८।

(ग) 'स वैकुण्ठः सूरो यदि हृदि विलग्नोऽस्ति सुतरा—
मकुण्ठोऽस्मत्खड्गस्तदयमपि गण्योऽस्तु भवताम्'।। रुक्मिणीहरण १।१७।।

(घ) तुलनीय—
'जिसकी बेटी नीकी देखै। तुरतै भाँवरि देउँ डराय ।।
दण्ड बाँधिलेउँ व क्षत्री की। संगहि डोला लेउँ खँदाय ।।
—आल्हखण्ड, पृ० २८, वेंकटेश्वर प्रेस ।।

१०. रूपककार वत्सराज, पृ० ३३१, डॉ० लक्ष्मणनारायण शुक्ल।
११. मध्यकालीन संस्कृतनाटक, पृ० २२६, डॉ० रामजी उपाध्याय।

के रूपकों में प्रतिबिम्बित सांस्कृतिक चेतना को समझने-परखने में सुविधा होगी।

वर्णव्यवस्था—

समाज में जन्मना जाति-परम्परा रूढ़ हो चुकी थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों की सामाजिक व्यवस्था थी। लेकिन, किरात जैसी जातियों का भी उल्लेख मिलता है जो धनुष-बाण द्वारा शिकार कर अपनी जीविका चलाती थीं और प्रायः बन्य प्रान्त में ही रहतीं थीं—

मांसं मुहुर्वंजनमहीषु गवेषयन्ति
तज्जीवनैकशरणाः शबराः किराताः। रु० प०, पृ० १३।

ब्राह्मणों का समाज में ब्राह्मण के नाते सम्मान था। यदि वह क्रुद्ध होकर अपशब्द भी कह डालता तो लोग उसका प्रतिकार न करते—'आः, ब्राह्मणो ऽसि ! किं करोमि ! निरङ्कुशरसनो व्याहर यथा यथा रोचते'[12] पृ० ७७। इतना ही नहीं, बहुत बड़ा अपराध कर देने पर भी उसे अवध्य समझा जाता था—

'आःशुक्र वक्रबुद्धे ! किमिदं कृतवानसि ? शङ्करवेषधरोऽसि द्विजोऽसि चेति कृतापराधोऽपि न मे वध्योऽसि'। पृ० ११८ ।। वे यज्ञ, अध्यापन आदि ब्राह्मणोचित कर्म के साथ मन्त्री, अमात्य जैसे पदों पर रहकर राजनीति में भी सम्बद्ध थे। कुछ वर्ग पौरोहित्य कर्म भी करना अपना कर्त्तव्य मानता था।[13] अग्रजन्मा के रूप में उसकी प्रतिष्ठा समाज में थी और अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक सदाचरण, वैदुष्य एवं नित्य—नैमित्तिक अनुष्ठानों की अपेक्षा उससे की जाती थी।[14]

ब्राह्मण के पश्चात् 'क्षत्रिय' का महत्वपूर्ण स्थान था। इनका सम्बन्ध राजनीति से था। प्रशासन, संरक्षण इनका दायित्व था। शौर्यसम्पन्न, पराक्रमशील एवं युद्धकला में निपुण होने की उनसे अपेक्षा की जाती थी। जनता का यह विश्वास रहता था कि आक्रमणकारी शत्रु को पराजित कर उनका राजा उन्हें

---

१२. जहाँ कहीं पुस्तक का नामोल्लेख नहीं है, वे सभी उद्धरण 'रूपकषट्कम' के हैं।
१३. 'अयि स्फुटाक्षर ! दानवगुरुणाहमस्य साचिव्ये पौरोहित्ये च नियुक्तोऽस्मि तन्नेह मे समुचितमौदास्यम्'। पृ० ६६ ।।
१४. 'बर्षन्तु हव्यभुजि साधु हवींषि विप्राः'। (रुक्मिणीहरण ४।२६)

सुख प्रदान करेगा।[15] क्षत्रिय प्रशासक में ब्राह्मणत्व तथा क्षत्रियत्व दोनों का समन्वय हो, त्यागी और संयमी के साथ-साथ वह ओजस्वी हो; तप और तलवार दोनों ही उसकी शक्तियाँ हों; उसके एक हाथ में स्फटिक की माला हो तो दूसरे में भयंकर धनुष। ऐसा व्यक्तित्व ही समाज, धर्म और नीति की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है—

एकः करः कलयति स्फटिकाक्षमालां
घोरं धनुस्तदितरश्च बिभर्ति हस्तः।
धर्मः कठोरकलिकालकदर्थ्यमानः
ब्रह्मक्षत्रियस्य शरणं किमिवानुयातः॥ किरातार्जुनीय व्या० श्लो० ३६॥

यह वत्सराज की दृष्टि है आदर्श क्षत्रिय के बारे में, जिसे दानी, काव्यमर्मज्ञ और शूर एक साथ होना चाहिए।[16] और वह कि जिस आदर्श को कालिदास ने स्थापित किया था—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।॥ रघुवंश २।५३।

उसी का समर्थन वत्सराज भी करते हैं। पर, मध्ययुगीन क्षत्रियों की स्थिति भिन्न थी। वे छोटी-छोटी बात पर लड़ते और बदला लेने के फिराक में रहते। प्रतिशोध बिना 'स्थिरवैरता' की स्थिति बनी रहती थी।[17] यद्यपि समान शक्ति वाले शत्रु के साथ युद्ध का आदर्श था।[18] लेकिन अधिकांश क्षत्रिय अपने अपमान का बदला लेने,[19] दूसरे की सम्पत्ति लूटने और कन्यापहरण करने

१५. (क) उन्मुद्रयन्नचिरमेव जगत्प्रमोदमाविष्करिष्यति विपक्षतमःप्रणाशम्। पृ० २॥

(ख) त्रैलोक्यवर्मनृपतेर्मनसि प्रमोदमाविष्करोति करवाललता, न कान्ता॥ पृ० २॥

१६. औदार्यशौर्यरसिकाः सुखयन्तु भूपाः॥ समुद्रमथन ३।१४॥
न्यायोपायप्रवृत्ता अवनिमवनिपाः पालयन्तु प्रसन्नाः॥ २१॥

१७. ह०, पृ० ७.

१८. शाकुन्ताल्वजा वयं नहि नहि व्यापारयामः शरान्
(क) सर्वत्रैव रणानभिज्ञमनसां वार्त्तैव का त्वादृशाम्॥ पृ० १६।
(ख) दुर्योधनो नहि तपस्विकृते कदापि
सज्जं करिष्यति धनुर्जगदेकवीरः॥ पृ० १८॥

१९. 'तात! अननुभूतपराभवाभिषङ्गोऽसि। किमुच्यते ?' (पृ०७)

के लिए युद्ध करते। संग्रामांगण में विजयश्री-वरणपूर्वक कन्योद्वाह होता।[20] मन्त्रविधि से औपचारिक परिणय तो बाद में सम्पन्न होता। प्रायः यह अनुचित आचरण ही संग्राम—विपत्ति का मुख्य कारण होता, लेकिन लोग उससे बाज न आते—

आसूत्रितामहह! कृष्णकृते किमेता'
त्वं मालतीं स्पृशसि पाणिततेन मोहात्।
धिग्धिक् प्रसार्यसि मुधैव विपत्प्रवेश—
द्वारं जना अनु चिताचरणं वदन्ति॥ (रुक्मिणीह० २।१९)

'विवाहयुद्ध' उस काल की एक सामान्य परम्परा सी इस अंचल की बन गई थी—

नहि नहि वरयात्रा केवलं कोमलेयं
रणभुवि भवितारोऽमुत्र रोमाञ्चकाराः।
समदरिपुनरेन्द्रस्थूलवक्षःस्थलस्थि—
क्रथनकटुरवास्ते दन्तिदन्तप्रहाराः॥ (वही २।२२)

वत्सराज के रूपकों से यह स्पष्ट होता है कि वर्णानुसार छुआछूत का विचार था। राजा से यह आशा की जाती थी वह जनता से वर्णव्यवस्था का सम्यक् पालन करवायेगा[21]।

स्त्रियों की स्थिति—

'रूपकषट्कम्' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समाज में नारी को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था। वह कामवासना की तृप्ति का साधन-जैसी थी[22]।

२०. (क) वातान्दोलचलाचलध्वजपटश्रेणीमिलन्मण्डपे
सिञ्जानोत्कटदुन्दुभिध्वनिमये संग्रामलीलाङ्गणे।
उद्वाहं विजयश्रियः क्षितिभुजामग्रे गुरूणां हरिः
कृत्वा भीष्मकपुत्रिकापरिणयं पश्चात्करिष्यत्यसौ॥ (रुक्मि० २।१४)

(ख) तुलनीय—
सगुन मनावत बनियाँ बाटू। जो धरि मौर बियाहन जात।
सगुन मनावैं का क्षत्री है। जो रण चढ़ि कै लोह चबात॥
(आल्हखण्ड, पृ० ६०३)

२१. त्रिपुरदाह ४।१८।

२२. रु० प०, पृ० ४७.

कन्याओं का बलात् अपहरण और उसके कारण युद्ध एक आम बात थी[23]। इसलिए माता-पिता के लिए कन्याजन्म सुखद बात नहीं थी। हर तरह की परतन्त्रता से स्त्रियाँ जकड़ी थीं उस समय। जो कन्याएँ अपने बड़ों और कुल की इज्जत का ध्यान रखतीं वे अपनी इच्छाएं लज्जावश व्यक्त नहीं कर पातीं थी और दुःख सहती रहती थीं[24]। सामान्यतः, नारी दुर्बलता का प्रतीक समझी जाती थी[25]। क्रूर कामुम उन्हें अपनी बनाने के लिए धमकी भरे पत्रों, भद्रप्रदर्शन और आक्रमण का सहारा लेते थे[26]। वस्तुतः, 'रुक्मिणीहरण' में 'रुक्मिणी' का हरण उस काल की न जाने कितने ललनाओं की हरणकथा का प्रतीक है और 'त्रिपुरदाह' में हिंसा और अन्याय से व्याकुल पृथ्वी त्राण के लिए महेश के पास क्या जाती है, लगता है मानो उस युग की करुणा की मूर्ति नारी ही साक्षात् उपस्थित हो रही है—

बाष्पाकुलास्या विकलं चलन्ती
विशालनिःश्वासविलोलवेणिः ।
उपस्थिता मूर्तिमती त्वमाधि—
रस्मन्मनो मेदिनि ! सादयन्ती ॥१।३१॥

विवाह—उस समय ब्राह्म, गान्धर्व, राक्षस तथा आसुर विवाह प्रचलित थे। ब्राह्मविवाह, का उदाहरण है 'समुद्रमथन' में समुद्र-सुता लक्ष्मी का वैकुण्ठ से विवाह, जहाँ समुद्र ने विवाह-प्रस्ताव रखा। इस विधि में कन्यादान का विशेष महत्त्व था[27]। और कन्यादान के पश्चात् यथाशक्ति अर्थदान भी किया जाता था। पर यह इच्छा पर निर्भर था। विवाह-वेला के पूर्व

२३. कन्यां खड्गबलोदयेन कलयन्नार्हामि गर्हामहं
श्लाघ्यस्त्वं शिशुपाल ! निस्त्रपमुपालम्भानिमान्याहरन् ॥
रुक्मि० ४।१४॥

२४. (क) अहो, सङ्कटं कन्यकानाम् । पृ० १८६ ॥
(ख) अहह, सुकष्टः कन्यकाभावः ! तथाहि,
हृदयं मदनायत्तं वपुरायत्तं गुरुजनस्यैव ।
मरणं दैवायत्तं कथं न सीदन्तु कुलकन्याः ॥ रुक्मि० ३।१॥

२५. हित्वा पौरुषवासनां न महिलाभावं गमिष्याम्यहम् ॥ त्रिपुरदाह १।४०॥

२६. रु० प०, पृ० ४१-४२॥

२७. अयं चास्तु कन्यामहादानस्य दक्षिणाकौस्तुभो मणिः ॥समुद्र०, पृ० १६०॥

मांगलिक कृत्यों में कन्या-द्वारा इन्द्राणीपूजा की प्रथा थी[28]। अनुरूप वर पाने या अभिलाषित व्यक्ति को वर के रूप में पाने के लिए भी भवानी-पूजा या भवानीमन्त्र का उपयोग किया जाता था[29]।

शिक्षा—मठ में रहते हुए संन्यस्त व्यक्ति, जिन्हें गुरु, आचार्य, उपाध्याय जैसे शब्दों से अभिहित किया जाता था, ब्रह्मचारियों को पढ़ाते थे[30]। गुरु का नाम लेकर बुलाना निन्द्य माना जाता था[31]। शिक्षार्थी विद्या की अर्थपरकता के प्रति सजग था। वह ऐसी शिक्षा लेना चाहता था जिससे अर्थोपार्जन हो सके[32]। रटने की पद्धति शिक्षण में विशेष प्रचलित थीं।[33] गुरू का आदेश अकाट्य था[34]। पर, आचरणभ्रष्ट गुरुओं का इतना अधःपतन भी हुआ था कि वे वशीकरण मन्त्र का प्रयोग रमणियों को मोहित करने के लिए करते थे[35]।

अलंकरण एवं मनोरंजन—

उत्तरीय वस्त्र, अंशुक, चीनांशुक, योगपट्ट, वल्कल आदि वस्त्रों की चर्चा रूपकषट्कम् में यत्र-तत्र प्राप्त है। नूपुर, मंजीर, अँगूठी, हार, कर्णफूल आदि अलंकरणों का भी उल्लेख है। शरीर पर कर्पूर, चन्दन, लोध्रपुष्प, अलक्तक लगाना जाना भी वर्णित है। ताम्बूलभक्षण भी एक प्रकार अलंकरण की दृष्टि से ही खाया जाता था। पुरुष और स्त्रियों दोनों ही खाती थीं[36]। अपने को कौन सुन्दर नहीं दिखाना चाहता ! लेकिन, वेश्याएँ व कुलटाएँ वृद्धा होकर भी कृत्रिम अलंकरणों से स्वयं को सुन्दर और कम अवस्था वाली दिखाने का यत्न किया करती थीं[37]। योद्धागण प्रायः रोज अपनी दाढ़ी बनवाते थे[38]।

द्यूत, मद्यपान और वेश्यावृत्ति—

मनोरंजन की दृष्टि से अपनायी गई द्यूतक्रीडा व्यसन बन गई थी और वह सभ्य समाज द्वारा स्वीकृत थी[39]। मद्यपान तो प्रायः हर खुशी का एक

२८. विवाहपूर्वकालाचारप्राप्तेन्द्राणीपूजायं वत्सा रुक्मिणी त्वरितं देवायतं प्रापयितव्या (पृ० ६४) तथा द्रष्टव्य, पृ० ६५, ७०, १५७।

२९. रुक्मि०, पृ० ५६। ३०. रू० प०, पृ० १२३-२४।

३१. पृ०, १२४। ३२. वही। ३३. अयि, कण्ठगतो श्लोको तवेमो संवृत्तो ! (पृ० १२४)

३४. पृ० ३। ३५. पृ० १३७

३६. रू० प०, पृ० १३४ तथा कर्पूरचरित, श्लो० १५।

३७. पृ०,१३८। ३८. कर्पूर० १।१५। ३९. पृ० ३५, १४८।

भंग-सा हो गया था। 'पानगोष्ठीमहोत्सव' का काफी वर्णन आया है[४०]। द्यूतक्रीडा से रहित और वेश्यावृत्ति से विमुख व्यक्ति की कोई जिन्दगी है[४१]? वेश्यालयों में गणिकाओं के यहाँ कुट्टिनियाँ अनिवार्यतः होती थीं। वे मध्यस्थता, दलाली करती थीं। गणिका को कुट्टिनी-विहीन होना वैसा ही था जैसे, 'चन्दनलता का सर्पिणी-रहित होना, खल-विहीन काव्यगोष्ठी और मगर-रहित अमृतसिन्धु'[४२]।

चौर्यकर्म—

चोरी सेंध करके[४३], दरवाजा तोड़कर[४४] या सोते समय मौका देखकर[४५] बिना सेंध किए हुए ही चोर चोरी किया करते थे।

तंत्रमंत्र, ज्योतिष और दान—

तान्त्रिक चमत्कार का बड़ा बोलबाला था उस काल में। जगह-जगह ऐन्द्रजालिक[४६] अपनी मायावी तान्त्रिक विद्या का प्रदर्शन करते थे। ज्वर आदि रोगों को दूर करने[४७], चोरी का पता लगाने के लिए[४८] तन्त्र मंत्र तथा ज्योतिष का प्रयोग होता था। यात्रा के निमित्त, विवाह के लग्न के लिए तथा युद्धयात्रा के प्रसंग में शुभ घड़ी जानने के लिए भी ज्योतिषियों से सलाह ली जाती थी[४९]। पर ज्योतिष तथा तन्त्रमन्त्र के माध्यम से ढोंगियों ने समाज का शोषण भी खूब किया। 'केवली विद्या, को जानने का ढोंग करने वाला 'ज्ञानराशि' ऐसा ही व्यक्ति था। दान का समाज में विशेष महत्व था। राजा को तो दानी होना ही चाहिए[५०]। सामान्य जन-जीवन में भी ग्रहण आदि

४०. पृ०, १२८। हा० चू०, पृ० ११६, १२३। कर्पूर०, श्लो०, २५,२८।
४१. द्यूतक्रीडाविहीनस्य वेश्यासु विमुखस्य च।
विद्यमानमपि व्यक्तं धनं स्वप्नधनोपमम् ॥कर्पूर, श्लो०८॥
४२. कर्पूरच०, श्लो० ३०.
४३. उपरि चतुरचौरैर्दत्तसन्धिप्रकारम् ॥ किरा०, श्लो० १४ ॥ हा० चू०, पृ० १२० ॥
४४. हा० चू०, पृ० १२० ॥ ४५. कर्पूर०, पृ० ३१ ॥
४६. इन्द्रजालपुरुषा इव दृश्यमाना अप्यविद्यमाना एव सर्वः शत्रव। किरा०, पृ० २ ॥
४७. रू०प०, पृ० १३६। ४८. वही, पृ० १२१
४९. 'आहूयन्ता मौहूर्तिकाः' पृ० ४६ ॥
५०. त्रिपुर० १।४, कर्पूर० श्लो० ३२, रुक्मि० ४।२६

जैसे विशेष अवसरों पर दान देने की प्रथा थी[५१]। इसके अतिरिक्त, दुःस्वप्न के निमित्त दान-दक्षिणा, उनके दोष-शमन की दृष्टि से किया जाता था[५२]।

धर्म और दर्शन—

'रूपकषट्कम्' में शिव का असकृत् प्रयोग हुआ है। केवल शिव ही नहीं, अम्बिका और त्रिशूल एवं उनके नेत्र भी उतने ही वन्दनीय हैं। 'किरातार्जुनीय' व्यायोग के प्रारम्भ में 'त्र्यम्बक चुम्बित चुम्बिका की कपोलपाली' तथा 'चन्द्राभरणवाले शिव के त्रिशूल' से कल्याण-कामना की गई है[५३]। अन्त में 'शंकराद्वैत के माध्यम से अज्ञानान्धकार के विनाश' की कामना है।[५४] इसी प्रकार, कर्पूरचरित[५५], त्रिपुरदाह[५६], हास्यचूडामणि[५७], समुद्रमथन[५८], सभी रूपकों में शिवपरक स्तुतियाँ हैं। केवल समुद्रमथन समवकार के द्वितीय मंगल श्लोक में 'मधुरिपु', विष्णु-अवतार कृष्ण का नामोल्लेख है और साथ में लक्ष्मी का। इसके अतिरिक्त 'रुक्मिणीहरण ईहामृग' में 'भणितिभिरिति लक्ष्म्याः पातु मूको मुरारिः[५९], के द्वारा मुरारि कृष्ण की स्वतंत्र स्तुति है। लेकिन ध्यान देने की बात है कि उससे पूर्व एकदम प्रारम्भिक मंगलाचरण में पार्वती और शिव की ही वन्दना की गई है[६०]। साथ ही रूपकों में विभिन्न स्थलों पर वत्सराज का शिवानुराग स्फुट हुआ है। प्रायः रूपकों का अभिनय 'नीलकण्ठयात्रामहोत्सव'[६१], में ही सम्पन्न हुआ है। केवल, 'रुक्मिणीहरण' का अभिनय 'चक्रस्वामियात्रा[६२], में आए विदग्ध सामाजिकों की इच्छा से हुआ था। इसलिए, वत्सराज के रूपकों में प्राप्त इन संकेतों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना

५१. त्रिपुर०, पृ० ७५ ॥ ५२. रू०, प० पृ० १०६ ॥
५३. किरा०, श्लो०१-२।
५४ मोहध्वान्तप्रणाशं मनसि च महतां शङ्कराद्वैतमास्ताम्, (किरा०, श्लो०-६१)
५५. श्लो० १-२ तथा ३-२ (लोकः सदा नन्दतु पूर्णकामश्चन्द्रार्द्धचूडे निबिडानुरागः)
५६. श्लोक १।१—३ एवं ४।२५ ॥ ५७ हा० चू०, श्लो० १—२ तथा श्लोक १४ पृ० १४८.
५८. श्लोक १।१ ॥ ५९. रुक्मि०, श्लो० २, पृ० ३७ ॥
६०. 'वितरतु रुचितं वः शाम्भवी दम्भभङ्गिः' —(रुक्मि० १।१)
६१. रूपकस०, पृ० १, २३, ११८। ६२. पृ० ३७ ॥

असमीचीन न होगा कि उस युग के प्रमुख उपास्य देव शिव थे[६३]। कृष्ण की उपासना-पूजा भी होता थी।

वह काल धार्मिक मतभेद और विद्वेष का काल था। शैव—वैष्णव, द्वैत—अद्वैत, दक्षिण—वाम उपासना-पद्धतियों के विवाद का युग था। पर चन्देल नरेश प्रायः शैव थे। परमर्दिदेव, त्रैलोक्यवर्मदेव तथा उनके अश्रित कवि वत्सराज स्वयं भी शैव थे[६४]। लेकिन, धार्मिक साहिष्णुता उनमें थी। शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के बीच ऐक्य स्थापित करने को उनका प्रयास था। हर तरह की असहिष्णुता छोड़कर जनता 'सन्मार्ग' का अवलम्बन करे[६५]—यही था रूपककार वत्सराज का सांस्कृतिक निष्कर्ष। अन्त में, इसका उल्लेख करना भी सामयिक होगा कि तमाम प्रतिकूलताओं एवं विषमताओं के बावजूद भी समाज में साहित्यिक गतिविधियों, नाट्याभिनय, कविगोष्ठियों,आदि का सरस आयोजन होता था[६६]।

६३. द्र०, चं० रा० का०, पृ० २००—२२१ तथा 'रूपककार वत्सराज' पृ० ३७४-७५॥

६४. 'भाव किमुच्यते ? महेश्वरोऽसि, तदपि माहेशान्येव नान्दीपदानि वीररसानुविद्धानि अपराणि पठतु भावः'। (रूपक०, पृ० १)

६५. 'सन्मार्गवासितधियो विलसन्तु लोकाः'—(समुद्रमथन, ३।१४)

६६. 'वाक्पीयूषप्रपाभिस्त्रिभुवनमनिशं मोदयन्तां कवीन्द्राः' (किरा०, श्लो०-६१)'

'सारस्वतोत्सवमयाः कवयो भवन्तु' (समु० ३।१४)॥

बनाफर वंशावली

स्व० दिवान प्रतिपाल सिंह जू देव

बनाफर वंश आल्हा-ऊदल के कारण विशेष प्रख्यात हुआ था। एक हस्तलिखित पुस्तक में उसकी वंशावली इस प्रकार मिलती है। लक्ष्मण जी के दूसरे पुत्र सीतावरन पूर्व में पुरैनियां में रहे। राजधानी बनारस में हुई। इससे बनाफर कहलाये। वंशावली निम्न है—

१—लक्ष्मण जी २—सीतावरन ३—सत्रराज ४—महाराज ५—भूमसत्र ६—अग्नितेज ७—देवल राज ८—श्याम राज ९—हरिसिंह राइ १०—नौराज ११—मानिक राज १२—वीरम राज १३—पदम राज १४—सूरत राज १५—श्याम राज—पुरैनियां छोड़ के ककरदेया रहे। १६—भैनिग राज १७—अनूप शाह (दस रानियां : बड़ गूजर की बेटी, भटाटेर (अटेर) भदौरिया की बेटी, गहवारन की बेटी, मैनपुरी के चौहान की बेटी, बूंदी के हाड़ा की बेटी, गहलौतन की बेटी, डौंडिया खेरे की बेटी, बैसन की बेटी, हाहुली कछुवाहे की बेटी, सोमवंसिन की बेटी, सौलंखी की बेटी—(इनके एक पुत्र हुआ।) १८—चिंतामन—(ये खजुराहे में आकर रहे और चन्द्रब्रह्म चंदेल को—मुसाहिब हुये। सत्तर हजार साठ राजाओं पर अमल किया। दो पुत्र हुए। कहते हैं कि चिंतामन ने अग्नि सेवर पाया था। तब उसके वंशज वह्नि से बनाफर विशेष प्रख्यात हुए थे।) १९—अभैराज—मकरंद (अभैराज खजुराहे से जाकर खटोला में कोड़े में बसे। वहां उनका वंश है। छोटे, मकरंद खजुराहे में रहे। मकरंद के एक पुत्र हुआ।) २०—दीप चन्द, २१—भौनग-राज २२—धर्मराज २३—पदमराज २४—सुतराज २५—मानराज २६—श्यामराज २७—प्रथीराज (इनके छः पुत्र हुए) जुगराज सिंह, विसुन सिंह, हंसराज, जालिमसिंह, नन्हैं जू) २८—जुगराज सिंह २९—बिजैराज ३०—सिवराज ३१—सभाराज ३२—हृदैराज ३३—गयंद-राज ३४—हाथी-राज ३५—महाराज ३६—दुर्गराज ३७—हंसराज ३८—बच्छराज ३९—दसराज—(ये महोबा में आकर रहे। दो पुत्र हुए) ४०—आल्हा, ऊदल (राजा पृथ्वीराज चौहान और परमाल चंदेल से युद्ध हुआ वहां ऊदल मारे गये (११६७-११८२ ई०) इनके कुंवर का नाम हरिद था। इनका ममयावरा

जूनागढ़ में सोलंखिन के था। मामा कुंवर को ले गये और अपने राज में जागीर दी। सो उनके वंश के उदैपुर के करीब बसते हैं और उस देश में रावल कहलाते हैं। उसी युद्ध से गोरखनाथ आल्हा को तप करने ले गये। इनका लड़का ईंदल था।) ४१—ईंदल (आल्हा का पुत्र। इसको बिनैंदीन बादशाह ने सम्वत् ११६१ (११६५ ई०) में महोबा व सिहुड़ा का परगाना जागीर में दिया) ४२—सूरसैन ४३—भगवानदास ४४—संभल दास ४५—नरसिंहभान (ये लौड़ी में आकर रहे। इनके छः पुत्र हुए–गजन जू, बदन जू—इनके वंशज मलहरा में हैं, निवाजी—इनके वंशज लौड़ी में हैं, कुंजलशाह, मोलसी, डोंगरराय—इनके वंशधर बारीगढ़, जेवराहा, महोबा के परगने और चरखारी के हटवा परगने में बहुत हैं।) ४६—गजन जू (चार पुत्र हुए—हरी, बसावन, श्रुत, मोलक) ४७—श्रुत, ४८—केसी (इनके तीन पुत्र हुए—दूलाराय, मुकटमन—वंश के कम्हिरिया में जिमीदार हैं, मनकट राय—वंशधर चितहरी धमंपुर मे जिमीदार हैं।) ४९—दूलाराय (३ पुत्र हुए—धीरज सिंह—इनके वंश के कसार में जिमीदार हैं, बाधराज—इनके वंशधर गुढ़ा के ३ जिमीदार हैं, रतनभान—मुंडेरी के जिमींदार। इनके एक पुत्र हुआ) ५०—धीरजसिंह ५१—परसोत्तम राय—कुंवर सोनेसाह के समय में जिमीदार थे (१७८४ ई०) ५२—मीनराय(चार पुत्र हुए—हरई साह, केसो राम, जैसींध राय, छीताराय ५३—सीताराम ५४—खेत ५५—पूरन (चार पुत्र हुए—बड़े, परताप, दूलाराय, बिहारी)।

आल्हखण्ड का रचयिता महाकवि जगनिक

० डा० नर्मदाप्रसाद गुप्त

० रचयिता के अस्तित्व का प्रश्न

आल्हखण्ड लोकप्रबंध या साहित्यि प्रबंध है या गाथा, यह विवाद बहुत पहले से चलता रहा है और उसी के साथ रचचिता के अस्तित्व का प्रश्न भी उठता रहा है। मूल कृति न मिलने के कारण विवाद और प्रश्न स्वाभाविक हैं, पर आल्हखण्ड किसी भी काव्यरूप में हो, उसके रचयिता के कर्तृत्व को नकारा नहीं जा सकता। लोकप्रबंध या साहित्यिक प्रबंध होने से रचयिता पर कोई आँच नहीं आती लेकिन गाथा मान लेने पर विद्वान समीक्षक बड़ी द्विविधा महसूस करते हैं क्योंकि उन्होंने पश्चिमी विद्वानों—राबर्ट ग्रेव्स, सिजविक, क्रीटीज, गूमर आदि का अनुसरण करते हुए उनके निष्कर्षों को जैसे का तैसा स्वीकार कर लिया है। लोकगाथा की पहली विशेपता यही मानी जाती है कि उसका रचयिता अज्ञात हो। कुछ विद्वान तो उसे लोकरचित कहकर रचयिता की संज्ञा ही समाप्त कर देते हैं। इसी कारण गाथा के प्रसिद्ध समीक्षक एक तरफ यह मानते हैं कि 'आल्हा' गाथा का रचयिता जगनिक था और दूसरी तरफ यह भी कि वह वास्तविक अर्थ में लोकगाथा है क्योंकि उसका रचयिता अज्ञात है। यह दुतरफी मान्यता किसलिए? एक और अजीब बात है कि हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, षोडश भाग (हिन्दी का लोक-साहित्य) में मैथिली, मगही, भोजपुरी, कनउजी, कौरवी आदि लोकभाषाओं में तो 'आल्हा' की खूब चर्चा हुई है, किन्तु बुन्देली लोकसाहित्य के लेखक ने उसका उल्लेख करना भी उचित नहीं समझा। असल में सारी द्विविधाओं और संकोचों का कारण यह है कि हमारे लोकसाहित्य के विद्वान आचार्य लोकसाहित्य की मान्यताओं के लिए अपने लोक और लोकसाहित्य का आंचल छोड़ पश्चिम का मुख जोहते हैं।

इस संदर्भ में एक मामूली किन्तु कीमती पहलू यह है कि जब विद्वान लोकमुख में जीवित काव्य को असली मानते हैं, तो फिर उसी लोकमुख में आज तक प्रचलित तथ्य को भी उन्हें प्रामाणिक समझना चाहिए। बुन्देली जनपद में बहुत प्राचीन काल से यह लोकमान्यता रही है कि 'आल्हा' का रचयिता जगनिक कवि ही है। इतना ही नहीं, महोबा रासो (१५२६-ई०

के लगभग), आल्ह राइछो (१७वीं शती), दलपति रायसो (१७०७ ई०) जगतराज-दिग्विजय (१७२२-२३ ई०) वीर-विलास (१७४१ ई०), आल्हा (१६वीं शती का उत्तरार्द्ध), पृथ्वीराज रायसो तिलक (१६१६ ई०) आदि सभी उपलब्ध ग्रंथ साक्षी है। अतएव अब किसी संदेह की गुंजाइश नहीं है। इतना जरूर है कि जगनिक के जीवन-वृत्त, निवास और व्यक्तित्व की पहिचान उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही की जा सकती है, उपर्युक्त ग्रंथों के अलावा अन्य स्रोत अभी तक नहीं मिल सके हैं।

जीवन-वृत्त

आल्हखण्ड जैसे लोकप्रसिद्ध काव्य के रचयिता महाकवि जगनिक का जीवनवृत्त अब तक अपेक्षित रहा है। साहित्य के इतिहासकारों ने कवि के जीवन-वृत्त की खोज की कोई चिन्ता नहीं की। कुछ विद्वान तो यह शंका करते हैं कि जगनिक नाम का कोई कवि था, क्योंकि वे आल्हखण्ड का रचयिता कोई विशेष कवि नहीं मानते। दूसरे विद्वान जो जगनिक के अस्तित्व को स्वीकारते हैं; जगनिक जगनायक, जयानक, जगनसिंह, जगमणि, आदि में भेद नहीं कर पाते। वस्तुतः प्रामाणिक सामग्री के अभाव में जगनिक के संबंध में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं और आल्हखण्ड के नायक आल्हा की तरह कवि का व्यक्तित्व भी निजन्धरी बन गया है।

जगनिक के जीवन के संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध,' डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, डा० टीकमसिंह तोमर आदि साहित्य के इतिहासकारों ने केवल इतना ही उल्लेख किया है कि जगनिक कालिंजर-नरेश परमाल के दरबार में एक भाट थे, जिन्होंने प्रसिद्ध वीर आल्हा-ऊदल के चरित का विस्तृत वर्णन किया था। उन्होंने जनश्रुति के आधार पर ही यह चर्चा की थी, किन्तु उसके संबंध में अधिक खोज करने का प्रयत्न नहीं किया। जार्ज ग्रियर्सन ने जगनिक को चन्देलनरेश परर्मादिदेव का भांजा माना है [1], लेकिन इस मान्यता की पुष्टि में कोई प्रमाणिक साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रियर्सन आल्हखंड के आल्हा-मनोओ खंड में उल्लिखित जगनायक या जगनिक को ही जो कि आल्हा को मनाने के लिये कान्यकुब्ज गये थे, आल्हाखण्ड का रचनाकार मान लेते हैं, क्योंकि उसे चन्देलों का 'मैंने' कहा गया है। आल्हखण्ड में जगनिक अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। जगनायक या जगनिक (जगनायक का संक्षिप्त) राजा परमाल की पुत्री चन्द्रावलि (जो कि बौरीगढ़ से राजकुमार इन्द्रसेन या इन्द्रजीत रानी थी) का पुत्र था। इस रूप में आल्हा का भांजा

कहा जा सकता है। माहिल के भाई की मृत्यु पर जगनेरी का किला जगनिक को दिया गया था [2]। यह जगनिक क्षत्रिय सामंत था, कवि और भाट नहीं। लेकिन यह अधिक संभव लगता है कि आल्हा-मनोआ का जगनिक कवि और भाट ही थो, क्योंकि कवि जगनिक ही ऐसे गुरुतर कार्य को संपादित कर सकता था, दूसरा कोई क्षत्रिय सामंत नहीं। और यह भी संभव है कि आल्हखण्ड के किसी गायक ने आल्ह-मनोआ के जगनिक को चन्द्रावलि का पुत्र जगनायक समझ लिया हो और उसका यह परिवर्तन निरन्तर उद्धृत होता रहा हो।

श्री केशवचन्द्र मिश्र ने चन्देलों के इतिहास की खोज करते हुये आल्हखंड और उसके रचयिता जगनिक को ऐतिहासिक आधार देने का प्रयत्न किया है, लेकिन उन्होंने पृथ्वीराज चरितम् के रचयिता जयानिक और जगनिक को एक मान लिया है, जबकि जयानिक कश्मीर-निवासी संस्कृत कवि था। पृथ्वीराज चरितम् में पृथ्वीराज को राम अवतार कहा गया है, अतएव पृथ्वीराज की प्रशस्ति करने वाला कवि जयानक और आल्हा-ऊदल के शौर्य को डरेहने वाला जगनिक एक व्यक्ति नहीं हो सकते। उस समय परमर्दिदेव और पृथ्वीराज मे अधिराजेश्वरत्व की होड़ लगी थी और वे एक दूसरे के परस्पर विरोधी और शत्रु थे, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। श्री लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी ने अपने ग्रंथ के प्रथम अध्याय में जगनिक का जीवनवृत्त देने का प्रयत्न किया है, पर उन्होंने महोबा समय परमाल रासो और आल्हखण्ड सभी में वर्णित विविध जगनिक नामों को एक मान लिया है।[3] वे कवि जगनिक के व्यक्तित्व की खोज नहीं कर सके। डा० महेन्द्रप्रताप सिंह ने जगनिक का नाम जगनसिंह माना है और उसे भाट न मानते हुये पंवार कहा है[4] पर उन्होंने अपने कथन की कोई प्रामाणिक पुष्टि नहीं की है और खैरागढ़ तहसील के जगनेर स्थान की किसी प्रचलित किंवदंती के आधार पर ही निर्णय ले लिया है। जगनेरी के एक क्षत्रिय सामंत का जो कि महोबा-युद्ध में मृत्यु वरण करता है, वृत्त भी डा० सिंह का स्रोत हो सकता है, पर जगनिक कवि तो ग्रंथ-रचना के लिये इस युद्ध के बाद भी जीवित रहा था। दूसरे अन्य ग्रंथों के अलावा सन् १७०७ ई० के करीब रचित कवि जोगीदासकृत दलपतराय रायसो से भी प्रमाणित हो गया है कि जगनिक भाट थे[5], अतएव अब किसी भ्रान्ति के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता।

आल्हखंड के जागन, जगमणि आदि वीर सामंत थे और परमर्दिदेव की सेना में नायक या सेनापति रहे होंगे, उनका संबंध आल्हखंड के रचयिता जग-

निक से जोड़ना उपयुक्त नहीं है। इतना अवश्य है कि जगनिक आल्हखंड के घटनाचक्र का प्रत्यक्षदर्शी पात्र था और आल्हखण्ड में उसका महत् व्यक्तित्व उभरना कोई असंभव बात नहीं है, क्योंकि पृथ्वीराज रासउ में भी चन्दवरदाई एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है, वास्तव में, आल्ह-मनोआ का जगनिक ही महाकवि जगनिक है। वह महाराज परमर्दिदेव की पटरानी का संदेशवाहक है, युद्धक्षेत्र में अपने शौर्य का प्रदर्शन भी करता है और राज्य की गंभीर समस्या में परामर्श भी देता है। रासो के महोबा समय[६] एवं डा० श्याम सुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'परमाल रासो'[७] में जगनिक को भाट कहा गया है। जगनिक को जगनायक जगनक और जगन भी लिखा गया है। परमालरासो में ग्रंथ-रचनाकार के संबंध में एक अर्द्धपंक्ति 'जगन कह्यो करि ग्रंथ' में जगन (जगनिक) ग्रंथकर्त्ता प्रतीत होता है और आल्ह-मनोआ के जगनिक के लिये जगन का प्रयोग भी अन्यत्र द्रष्टव्य है।[८] इससे स्वतः सिद्ध है कि दोनों जगनिक एक ही हैं। अनुश्रुति के अनुसार भी यह सत्य प्रमाणित होता है अब समस्या केवल यही है कि आल्हखण्ड में आल्हमनोआ का जगनिक परमर्दिदेव का भांजा अर्थात् राजपूत क्षत्रिय है, लेकिन ऐसा लगता है कि यह बाद की कल्पना है, क्योंकि कन्नौज से आल्हा-ऊदल को मनाकर लाना केवल आल्हखण्ड के रचयिता जगनिक भाट के सामर्थ्य की बात थी।[९] कवि जगनिक आल्हखंड के शौर्य से इतना प्रभावित था कि चन्देलनरेश परमर्दिदेव के दरबार में रहते हुए भी उसने परमर्दिदेव की प्रशस्ति में ग्रंथ की रचना नहीं की, वरन् बनाफर वीर आल्हा को महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का नायकत्व प्रदान किया। इससे यह अनुमान लगाना उचित है कि आल्हा भी जगनिक का सम्मान करते थे। इसीलिये बनाफर वंधुओं को महोबा आकर पृथ्वीराज चौहान से युद्ध करने के लिए प्रेरित करने का दायित्व जगनिक को सौंपा गया था। कवि ने उनके हृदय को ऐसा छुआ कि वे अपने अपमान को भूलकर मातृभूमि पर बलिदान होने के लिए तैयार हो गये।[१०]

पृथ्वीराज रासउ के महोबा समय में जगनिक को विद्वान दूरदर्शी, अवधि के अन्तर्गत लाने का कार्य ही सौंपा गया है। यहां तक कि जगनिक कान्ह से युद्ध करता हुआ वीरगति प्राप्त करता है।[११] परमालरासो में भी जगनिक शास्त्रज्ञ, मन्त्रसाधक सम्मानित राजकवि एवं वीरयोद्धा है। वे महारानी के अंतरंग हैं, राज्य की राजनैतिक स्थिति से पूर्ण परिचित। माल्हन दे उनका सबसे अधिक सम्मान करती है और उन्हें कठिन से कठिन समस्या सौंप कर निश्चित हो जाती है।[१२] तीनों ग्रंथों में जगनिक का आल्हा को प्रेरित कर महोबा लाने तथा कान्य-कुब्ज-नरेश जयचन्द से सन्धि करने के कार्य-व्यापार

समानता रखते हैं और इससे कवि जगनिक का व्यक्तित्व चरम उत्कर्ष तक पहुँच जाता है। यह गरिमा कवि जगनिक की है, और किसी की नहीं। किन्तु तीन ग्रंथों में जगनिक की मृत्यु चंदेल और चौहानों के युद्ध में होती है और यहीं यह समस्या खड़ी हो जाती है कि कवि की मृत्यु के उपरान्त ग्रंथ की रचना किसने की। वस्तुतः इस युद्ध में सेनानायक और जगनेरी के सामंत जगनायक की मृत्यु का वर्णन किया गया है, कवि जगनिक ने तो इसी युद्ध के उपरान्त अपने काव्य की रचना की। अतएव जगनिक कवि की मृत्यु उसके बाद हुई होगी।

जन्म और निवास—कवि जगनिक के निवास-स्थान और जन्म के संबंध में कोई प्रामणिक सूचना उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वान उनकी भाट जाति के आधार पर उन्हें राजस्थान का निवासी सिद्ध करते हैं। उनका मत यह है कि वे जीविकोपार्जन के लिए बुन्देलखण्ड आये और चन्देल-नरेश ने उनकी प्रतिभा और गुणों से प्रसन्न होकर उन्हें दरबार में रख लिया, लेकिन इससे वे राजस्थान के निवासी सिद्ध नहीं होते। दूसरी विशेष बात यह है कि जगनिक के काव्य की भाषा और शैली बुन्देली है, राजस्थानी नहीं। उस समय राजस्थान में अपभ्रंश का जितना प्रभाव था, उतना मध्यदेशीय भाषा का नहीं। अतएव यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है। कुछ लोग उन्हें चन्देरी का निवासी कहते हैं, पर उसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। डा० महेन्द्र प्रताप सिंह का मत है कि जगनिक कवि आगरा जिले के खैरागढ़ तहसील का निवासी था और जगनसिंह के नाम पर ही उनके जन्मस्थान को जगनेर नाम मिला था।[१३] आल्हखण्ड में वे जगनेरी ग्राम के सामन्त के रूप में वर्णित है, पर जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, यह वर्णन रचनाकार के परिचय के अभाव में जगनेरी के क्षत्रिय सामन्त से (जिसकी मृत्यु महोबा के युद्ध में हो जाती है) जोड़ दिया गया है। जब तक उनके जन्मस्थान की सही खोज नहीं होती, विविध अटकलों को प्रश्रय देना व्यर्थ है। इतना निश्चित है कि वे महोबा या महोबा के आसपास की बनाफरी बुन्देली भाषी स्थान के निवासी थे। महोबा में एक ब्रह्मभट्ट परिवार श्री बिहारीलाल भट्ट का है और वे अपने को जगनिक का वंशज कहते हैं, पर उनके पास कोई प्रामाणिक साक्ष्य प्राप्त नहीं हो सका।

काव्य-काल—जगनिक के काव्य-काल का निर्धारण भी सरल नहीं है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सं० १२३० (सन् ११७३ ई०) निर्धारित किया है,[१४] किन्तु यह उचित नहीं है। चंदेल-नरेश परमर्दिदेव का शासनकाल ११६५ ई० से १२०२-३ ई० तक माना गया है। अतएव जगनिक भी इसी अवधि में राजकवि के पद को सुशोभित करता रहा। चंदेलों और चौहानों

का युद्ध मदनपुर अभिलेख के अनुसार ११८२-८३ ई० में हुआ और उसी के उपरान्त आल्हखण्ड की रचना हुई होगी, क्योंकि आल्हखण्ड की मुख्य घटना यही है, जिसे केन्द्र में रखकर कवि ने अपने काव्य के कथाचक्र को निर्मित किया है। संभवतः इसीलिये ग्रियर्सन ने ग्रंथ का रचनाकाल सन् ११९१ ई० माना है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि जगनिक इसके पूर्व रचना नहीं करता था। आल्हखण्ड के महाकाव्यात्मक आयाम को देखकर यह अनुमान सही लगता है कि उसका रचनाकार कम से कम २०-२५ वर्ष पूर्व से काव्यसृजन करता रहा होगा। दूसरी बात यह भी है कि जगनिक का चंदेलों के दरबार में स्थान प्राप्त करने का कारण उसकी काव्य-चमत्कृति या प्रशस्ति-मूलक काव्य-रचना ही रहा होगा। इससे स्पष्ट है कि जगनिक का काव्य-काल ११६५ ई० या उससे पहले से आरंभ होना निश्चित है। सन् १२०२ या १२०३ ई० में कालिंजर पर कुतुबुद्दीन का आक्रमण हुआ, लेकिन आल्हखण्ड में इस ऐतिहासिक घटना का कोई वर्णन नहीं है। इससे लगता है कि जगनिक या तो १२०३ ई० के पूर्व कहीं चला गया या १२०३ ई० के युद्ध में मारा गया। इस आधार पर आल्हखंड का रचना काल ११८२ ई० से लेकर १२०२ ई० के बीच का ठहरता है और जगनिक का काव्य-काल ११९० से लेकर १२०२ ई० के मध्य निर्धारित किया जा सकता है। लेकिन यदि महोबा समय को पृथ्वीराज रासो का एक खंड माना जाये, तो उसके रचनाकाल को इस संदर्भ मे देखना पड़ेगा। ११९३ ई० के युद्ध में पृथ्वीराज और उसके राजकवि चन्द की मृत्यु हो जाती है। इसीलिये निश्चित है कि पृथ्वीराज रासो के 'महोबासमय' की रचना ११८२ ई० से ११९३ ई० के बीच में हुई होगी और लगभग उसी समय आल्हखंड रचा गया होगा। ११९३ ई० का युद्ध भारतीय इतिहास की प्रमुख घटना थी और ऐसा असंभव लगता है कि जगनिक उससे परिचित न रहा हो तथा वीर कवि जगनिक इस घटना से सचेत होकर आल्हखंड में कोई संकेत तक न दे। इस दृष्टि में आल्हखंड की रचना ११८२ ई० और ११९३ ई० के बीच की सिद्ध होती है।[१५]

हिन्दी का प्रथम कवि—हिन्दी के प्रथम कवि के सम्बन्ध में साहित्य के इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ विद्वानों—शिवसिंह सेंगर, डा० ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु आदि ने पुष्य कवि (सं० ७७० वि०) को प्रथम कवि बतलाया है, किन्तु इस मत को आगे के इतिहासकारों ने मान्यता नहीं दी। राहुल जी ने अपभ्रंश के कवि सरहपा (सं० ८२७ वि०) पर जोर दिया, किन्तु भाषाविदों ने अपभ्रंश को हिन्दी के अन्तर्गत स्थान देना समुचित नहीं माना। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति

इतिहासकारों ने प्रथम कवि का कोई स्पष्ट निर्णय नहीं लिया। आधुनिक इतिहासकारों में डा० गणपति चन्द्र गुप्त ने जैन कवि शालिभद्रसूर को प्रथम कवि एवं उनकी रचना भरतेश्वर बाहुबलीरास (सं० १२४१ वि० या ११८४ ई०) को प्रथम काव्य ग्रंथ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु अनेक विद्वान भरतेश्वर बाहुबलीरास को गुर्जर अपभ्रंश की रचना समझते हैं और कुछ समीक्षक इससे भी पूर्व की रचनाओं को भाषा की दृष्टि से लोकभाषा की स्वीकार करते हैं। आश्चर्य है कि इतिहासकार और समीक्षक राजस्थान या गुजरात के किसी कवि को हिन्दी का प्रथम कवि सिद्ध कर हिन्दी साहित्य का उद्भव राजस्थान से खोजने का प्रयत्न करते हैं, जबकि यह निश्चित है कि हिन्दी भाषा का उद्भव मध्यदेश में हुआ था और हिन्दी का साहित्य यहां ही पहले रचा गया, राजस्थान या गुजरात पर उसका प्रभाव तो बहुत बाद की घटना है। अभी तक अधिकांश विद्वानों ने जिन रचनाओं की प्राथमिकता का महत्व दिया है, वे या तो अपभ्रंश की हैं या उनकी भाषा के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्णय नहीं लिया जा सका है। लेकिन आल्हखंड की भाषा के विषय में लगभग सभी इतिहासकार एवं भाषाविद् एकमत हैं कि वह लोकभाषा में रचित एक प्रबन्ध काव्य है। इसीलिये जगनिक को हिन्दी का प्रथम कवि मानने में कोई बाधा नहीं है।

संदर्भ-संकेत

१. द ले आफ आल्हा—इंट्रोडक्शन बाई सर जार्ज ग्रियर्सन, पृ० ६।
२. आल्हखंड—खेमराज श्रीकृष्णदास का प्रकाशन, भूमिका, पृ० ३२।
३. महाकवि जगनिक कृत लोकगाथा काव्य आल्हा—लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी, पृ० ७-१४।
४. ऐतिहासिक प्रमाणावली और छत्रसाल, परिशिष्ट २ ग, पृ० ३२५।
५. दलपतिराय रायसो, जोगीदास, छन्द २७६।
६. महोबा समय, छन्द १३७, १८६।
७. परमाल रासो—संपा० श्यामसुन्दर दास, सं० १९७६, पृ० ९० छंद ४१।
८. वही, पृ० १००, छन्द ८०।
९. आल्हा—नर्मदा प्रसाद गुप्त, देखिये भूमिका।
१०. पीपर कटिगो तुमरो आल्हा औ ऊदन को लोटन आय।
खेत जीत जो बैरी जैहै तौ का राख बटुंरिहौ आय ॥ आदि।

११. पृथ्वीराजरासो, पृ० २६८७।
१२. परमालरासो—सं० श्यामसुन्दर दास, पृ० ६८, छंद सं० ६६ से ६८।
१३. ऐतिहासिक प्रमाणावली और छत्रसाल, परिशिष्ट २ ग, पृ० ३२५।
१४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल, पृ० ५३।
१५. बुन्देलखंड का मध्ययुगीन काव्य: एक ऐतिहासिक अनुशीलन, डा० नर्मदा प्रसाद गुप्त, अप्रकाशित, पृ० १२६।

आल्हखण्ड का कथा-चक्र

—डा० वीरेन्द्र 'निर्झर'

ऐतिहासिक पुरुषों को लेकर गुणानुवादमूलक चरितकाव्यों की रचना चारणयुग की विशेषता है। उस साहित्य ने हमारे देश की यथेष्ट रक्षा की है। राष्ट्रीय भावनाओं और जातीय गौरव को स्वर दिया है। किन्तु दरबारी कवि होने के कारण पाण्डित्य एवं काव्य-शक्ति के प्रदर्शन की भावना के साथ-साथ परम्परागत घटनाओं और रूढ़ियों के स्वतंत्रतापूर्वक समायोजन का लोभ वे संवरण नहीं कर सके। फलतः पारंपरिक वर्णनाओं, किंवदन्तियों और कल्पना के भार से बोझिल कथावस्तु इतिहास से भटक गई और उसने अपने चारों ओर एक अविश्वास का वातावरण सृजित कर लिया। आल्हखण्ड की कथा-वस्तु के साथ तो एक और विडम्बना यह है कि कहीं भी किसी भी पुस्तकालय में उसकी कोई भी पुरानी प्रति उपलब्ध नहीं होती। वह तो लोक रुचि और लोक संरक्षण में ही शताब्दियों तक मौखिक चलता रहा। स्पष्ट है कि मुख से मुख तक की इस-धजी के सांप वाली यात्रा में उसका कुछ कलेवर बदलता रहा है, बदला है।

आल्हखण्ड को लिपिबद्ध कराने का सबसे प्रथम कार्य सन् १८६५ में सर चार्ल्स इलियट ने किया, जिसे मुंशी रामस्वरूप ने अपने दिलकुशा प्रेस, फतेहगढ़ में छापकर प्रकाशित किया। इसमें तेईस लड़ाइयां हैं। तत्पश्चात् दूसरे आल्हखण्ड प्रकाश में आये। इनमें अन्य लड़ाइयां भी संग्रहीत हुईं। आज आल्हखण्ड के विभिन्न रूपों में पच्चीस, छप्पन और चौंसठ लड़ाइयां तक सम्पादित प्राप्त होती हैं। खेमराज श्रीकृष्णदास, बंबई द्वारा प्रकाशित नारायण-प्रसाद सीताराम के आल्हखण्ड में तेंतीस लड़ाइयों को स्थान मिला है।

कथावस्तु

कथावस्तु की दृष्टि से नारायणप्रसाद सीताराम के आल्हखण्ड के प्रारम्भ में मंगलाचरण के छन्द हैं, फिर सभी देवी-देवताओं, व्यास, नारद आदि की सुमिरनी। आल्हखण्ड का पहला समय प्रस्तावना के रूप में—'राजा परिसाल का व्याह : महोबा की पहली लड़ाई' है। महोवा के शासक वासुदेव की सुपुत्री मल्हना की सुन्दरता की चर्चा सुनकर परमर्दिदेव अपने मंत्री चिंता-मणि के परामर्श से महोबा पर आक्रमण कर देता है। भीषण युद्ध के उपरान्त

परमर्दिदेव का मल्हना से विवाह होता है। मल्हना महोबा में ही रहना चाहती है अतः परमर्दि विवश हो बासुदेव को उरई का राज्य देकर स्वयं महोबा पर अधिकार कर लेते हैं। परमर्दि पहले चंदेरी का शासक था। **दूसरे समय** में 'संयोगिनि स्वयंबर'—पृथ्वीराज और जयचन्द की लड़ाई का वर्णन है।

तीसरी लड़ाई महोबा की है। इसमें माड़ों के राजकुमार का दच्छराज से युद्ध वर्णन है। करिया महोबा पर आक्रमण करता है किन्तु बनाफरों के सामने उससे पराजित होकर भागते ही बनता है। परमर्दि बनाफर वीरों को अपने यहाँ बालाध्यक्ष नियुक्त करते हैं और मल्हना की बहनों के साथ उनके विवाह कर देते हैं। आल्हा और मलखान के जन्म के बाद एक रात करिया सोते हुए दक्षराज और बच्छराज के शीश काट कर महोबा को लूट लेता है। ऊदल का जन्म बाद में होता है और मल्हदे पालन-पोषण करती हैं।

चौथा समय 'माड़ों की लड़ाई' है। कथा की पृष्ठभूमि में शिकार खेलते हुए ऊदल उरई पहुँचते हैं और पनिहारियों से झगड़ बैठते हैं। दुबारा माहिल के पुत्र अभई से हाथापाई हो जाती है। अभई का हाथ टूट जाता है। माहिल का क्रोध ऊदल मे पिता दस्सराज के बध पर व्यंग्य करता हुआ बरस पड़ता है। हठात योगीवेष में माड़ों का साराभेद लेकर बनाफर बन्धु उसे ध्वस्त करके ही चैन लेते हैं। **पांचवें समय** में 'सिरसा की पहली लड़ाई' का प्रारम्भ मलखान की मृगया की तैयारी से होता है। मृगों को खोजता हुआ मलखान सिरसा के बीहड़ों में एक हरिण को मार गिराता है। पृथ्वीराज का पुत्र पारथ सिरसा का शासक है। वाक्युद्ध में मलखान को ज्ञात होता है कि यह तो उसके पिता की ही जागीर है। पारथ से मलखान का युद्ध होता है और सिरसा का शासन सूत्र मलखान के हाथ लगता है।

पांचवें समय के बाद से वैवाहिक युद्धों का क्रम प्रारंभ होता है। **छठे समय** में 'आल्हा का ब्याह' : नैनागढ़ की लड़ाई वर्णित है। मछुना (सुनवां) आल्हा को वरण करने के लिए स्वयं महोबा सूचना भेजती है। अतः नैनागढ़ पर विजय प्राप्त कर बलपूर्वक आल्हा का मछुला से विवाह सम्पन्न कराया जाता है। **सातवां समय** 'पथरीगढ़ या कोट कसौंदी की लड़ाई' मलखान के ब्याह से संबंधित है। **आठवें** में 'बौरीगढ़ की लड़ाई' चन्द्रावलि की चौथी की है। इसमें ऊदल बहिन चंद्रावलि का विदा कराने के लिए बौरीगढ़ जाता है। माहिल की प्रतिशोधी वृत्ति मधुर संबंधों को युद्ध की विभीषिका में बदल देती है। अंत में जब भेद खुलता है, चन्द्रावलि की निंदा होती है। **नवें समय** में ब्रह्मानन्द और बेला का विवाह अर्थात् दिल्ली की लड़ाई, **दसवें** में ऊदल का विवाह

: नरवरगढ़ की लड़ाई, **ग्यारहवें** में मुलखान का विवाह : कुमायूं गढ़ की लड़ाई और बारहवें में धांधू का ब्याह : बुखारे की लड़ाई वर्णित हुई है।

तेरहवां कथावृत्त इंदलहरण से संबंधित है। गंगा स्नान के पर्व में ऊदल के साथ इंदल भी जाता है। वहाँ बलखबुखारे के राजा अभिनन्दन की बेटी चित्ररेखा इंदल का अपहरण कर लेती है। ऊदल जब अकेले ही महोबा लौटते हैं आल्हा उसकी आँखें निकालने का दण्ड देता है। मछला ऊदल को बचाती है। ऊदल इन्दल की खोज में निकल पड़ता है और अंततः मकरंद की सहायता से वह उसे ढूंढ निकालता है। इसी से लगा हुआ **चौदहवें** कथावृत्त इन्दल के ब्याह से संबंधित 'बलख बुखारे की लड़ाई' का है। **पंद्रहवें** इन्दल के दूसरे विवाह 'पथरियाकोट की लड़ाई' का कथावृत्त है। इसमें पथरियाकोट का राजा मछला का हरण करता है। मछला उसकी पुत्री सुआपंखिनी को अपनी बहू बनाने का संकल्प लेती है। युद्ध के बाद सुआपंखिनी का इन्दल से विवाह होता है। **सोलहवां समय** 'सिंहल द्वीप की लड़ाई' इन्दल के तीसरे विवाह से संबंध रखती है।

सत्रहवें समय में 'आल्हा निकासी'—महोबा से आल्हा-ऊदल को निष्कासित किए जाने की कथा है और **अठारहवें** सोपान में 'लाखनराना के विवाह' : बूंदी (कामरू बंगाल देश) की लडाई का वर्णन है। **उन्नीसवां समय** 'गांजर की लड़ाई' का है। इसमें जयचन्द के राज्य से अपने को स्वतंत्र करने में प्रयत्नशील गांजर—बिरियागढ़, पट्टी, कामरूप, बंगाल, कटक, जिसी, रुसनी, गोरखपुर, पटना, काशी आदि बारह राज्यों से कर वसूल करने में ऊदल की विजय का शौर्यवृत्त अभिनियोजित हुआ है।

बीसवां समय 'सिरसा की दूसरी लड़ाई' में पृथ्वीराज सिरसा पर आक्रमण करते हैं। भयंकर युद्ध होता है। मलखान को माहिल की कूटनीति से छलपूर्वक मारा जाता है। गजमोतिन सती हो जाती है।

इक्कीसवीं 'कीरतसागर पर भुजरियों की लड़ाई' है। पृथ्वीराज का अगला आक्रमण श्रावणी के समय महोबा पर होता है। किन्तु लाखन और ऊदल के सामने उसे परास्त होकर लौटना पडता है। श्रावणी सकुशल सम्पन्न होती है।

बाईसवें 'आल्हा मनौआ' खण्ड में पृथ्वीराज और अधिक सैन्यबल के साथ महोबा पर पुनः आक्रमण करता है। आल्हा ऊदल को मनाने के लिए जगनिक कन्नौज जाते हैं। अंततः आल्हा अपमान का घूंट पीकर जयचन्द की विशाल सेना और लाखन के साथ जन्मभूमि की रक्षा के लिए प्रस्तुत होते हैं। **तेईसवां**

'नदी बेतवे की लड़ाई : लाखन विजय' खंड है। इसमें पृथ्वीराज के विरुद्ध लाखन बीरा उठाते हैं और युद्ध में विजयी होते हैं। चौबीसवें खंड में 'ऊदल हरण की लड़ाई' वर्णित है। झुन्नागढ़ की शोभा बेड़िन गंगा तट से ऊदल को सम्मोहित कर ले जाती है। मछला बेड़िन के सम्मोहन को काटती है और ऊदल को छुड़ाती है। पच्चीसवें खंड में 'अमरगढ़ की लड़ाई' अर्थात लाखन के दूसरे विवाह की, छब्बीसवें में मलखान के पुत्र 'जलसूरि के विवाह' से संबंधित दिल्ली की तथा सत्ताइसवें में आल्हा के छोटे पुत्र भयंकर के विवाह की 'सागर की लड़ाई' वर्णित है।

अट्ठाइसवें समय में बेला के गौने की पहली तथा उन्नीसवें समय में बेला के गौने की दूसरी लड़ाई कही गई है। तीसवें समय में 'बेला से ताहर की लड़ाई होती है। बेला ताहर का शीश काट लेती है। इक्तीसवें समय में बेला के सती होने के लिए 'दिल्ली की चंदन बगिया काटने की लड़ाई' तथा बत्तीसवें समय में 'चन्दन खम्भ उखाड़ने की लड़ाई' है। तेंतीसवाँ समय 'बेला के सती होने की लड़ाई' से संबंधित है। इसी युद्ध में चौहान और चंदेल दोनों ही शक्तियों का सबसे अधिक विनाश होता है। लाखन ऊदल आदि सभी वीर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। आल्हा और इंदल कजरी बन को चले जाते हैं और रानियाँ सती हो जाती हैं।

कथा विन्यास—

आल्हखण्ड की सभी घटनायें आल्हा-ऊदल के जीवन चरित्र से संबद्ध हैं। इसमें चरित्र की प्रधानता है, किन्तु चरित्र के विकास के लिए आवश्यक वस्तु की भी सम्यक योजना की गई है। काव्य में वस्तु के तीनों अंग—आदि, मध्य और अवसान बहुत कुछ स्पष्ट हैं। आल्हखण्ड की मुख्य कथा आल्हा और ऊदल की अलौकिक वीरता की कथा है; उत्साह और गौरव की मर्यादा का प्रतिपादन, जिसके साथ महाराज परमर्दिदेव की कथा लिपटी हुई है। आल्हखंड के प्रारम्भ में 'परमाल के विवाह' तथा 'संयोगिनी के विवाह' की कथा काव्य की भूमिका का निर्माण करती है। वस्तु का आदि महोबा की लड़ाई'—दच्छराज और करिया के युद्ध से लेकर 'इंदल के विवाह' तक विस्तृत है। 'आल्हा निकासी' से 'कजलियों की लड़ाई' तक की कथा मध्य और बाईसवें खंड 'आल्हा मनउआ' में कथा अवसान है। प्रारम्भ में मांड़ो विजय का प्रतिशोधजन्य उत्साह, सिरसा विजय का स्वाभिमानी दर्प और तत्कालीन नरेन्द्रों के साथ संबंध-स्थापन में अपराजेय शौर्य सभी आल्हखण्ड के चरित नायक आल्ह और ऊदल को सामान्य से वीरत्व की अग्रिम पंक्ति में लाकर

खड़ा करते हैं। परमर्दिदेव भी एक बार उनकी वीरता से भयभीत हो उठता है, कि कहीं बढ़ता हुआ यह यशःकेतु चन्द्रवंश की परिधा को ही न ढक ले। क्षितिज की ओर बढ़ती हुई कथा परमर्दिदेव से निराश्रित होकर वीरत्व के मध्याह्न में जयचन्द के लिये बंगाल, काशी, पटना आदि की गांजर विजय के साथ ही कजली महोत्सव में पृथ्वीराज को परास्त कर समूचे देश में यशस्वी कीर्तिमान स्थापित करती है। बेतवा और उसके बाद के युद्ध आल्हखंड की चरम घटना है।

घटना ऐक्य की दृष्टि से आल्हखंड का संगठन सूत्र बिखरा हुआ है। सभी युद्ध एक ही धुरी की किन्तु अलग-अलग त्रिज्जाओं पर खड़े हैं। यद्यपि कथाकार ने अन्विति बनाये रखने के लिए प्रत्येक खंड के अंत में अगले खंड की कथावस्तु की सूचना दी है, तथापि सभी समय एक ही जीवनवृत्त के अलग-अलग काल खंडों की कथा कहते हैं। कथा का क्रमिक नहीं, अंतरशः विकास हुआ है। इसका प्रमुख कारण आल्हखंड में केवल युद्धपरक घटनाओं को ही सम्मिलित किया जाना है। जहाँ कहीं भी कोई घटना क्रमिक रूप से बढ़ी है, एक समय दूसरे समय से अन्विति एवं संबद्धता संजोये हुए है। उदाहरण के लिए अट्ठाईसवें समय से तेंतीसवें तक की बेला के गौने की कथा देखी जा सकती है। ऐसे ही तेरहवें और चौदहवें खंडों में अनुस्यूत इंदलहरण की कथा का विकास भी क्रमिक है। गांजर की लड़ाई तो स्वयं में कई युद्धों की एक श्रृंखलाबद्ध सुव्यवस्थित योजना है।

खंडों के क्रम की दृष्टि से आल्हखंड में कुछ असंगतियाँ तो बहुत ही स्पष्ट हैं। पंद्रहवें और सोलहवें खंड की कथा—सुनवाँ (मछला) हरण तथा सिंहल द्वीप की लड़ाई का घटना स्थल कन्नौज है। जबकि आल्हा का महोबा से निष्कासन सत्रहवें खंड में इनके बाद है। इसी प्रकार तेईसवें खंड में नदी बेतवे की लड़ाई के बाद ऊदलहरण, अमरगढ़, जलशूरि के विवाह की लड़ाई आदि का विकास अस्तव्यस्त ढंग से हुआ है।

कथा वस्तु के विभिन्न रूप :

रचना के समय से ही आल्हा की कथा सारे उत्तरीय भारत में लोकप्रिय रही है। शदियों तक लोगों ने इसे सहेजा है, सराहा है और इससे प्रेरणा ली है। लोककंठ में पलित, पल्लवित और पुष्पित यह ऊर्जा काव्य लोक की अपनी निधि है। फिर भला यह लोक श्रुतियों और संस्कारों से कैसे अछूता रहता। विभिन्न ग्रंथों को देखने से यह स्पष्ट पता चलता है कि आल्हा का कथाचक्र बहुत पहले से ही परिवर्तित और परिवर्द्धित होता रहा है। विद्वानों, कवियों

और लोकगायकों की तराश ने इसके न जाने कब-कब कितने संस्कार किये हैं। परिणामतः मूल कथा के अनेकानेक रूपांतर—भविष्य पुराण, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, वीर विलास, आल्हखंड, लोक काव्य तथा अन्य दूसरे ग्रंथों और जनश्रुतियों में देखने को मिलते है। पूरी कथावस्तु की परख तो यहाँ सम्भव नहो किन्तु विभिन्न ग्रंथों में वर्णित कीरत सागर की लड़ाई की वस्तु विविधता के कुछ आयाम दृष्टव्य हैं—

१—माहिल महोबा के विरुद्ध पृथ्वीराज को युद्ध करने के लिये उकसाता है। यह कथानक पृथ्वीराज रासो की दोनों प्रतियों, आल्हखण्ड एवं अन्य ग्रंथों में है। परन्तु भविष्य पुराण में माहिल पृथ्वं राज को दिल्ली जाकर महोबा का वामन महोत्सव (कजली, देखने के लिए आमंत्रित करता है, युद्ध के लिए नहीं।

२—पृथ्वीराज भी वामन महोत्सव में सम्मिलित होने के लिये महोबा आना है (भविष्य पुराण)। अन्य ग्रंथों की राय में वह महोबा पर प्रतिशोध की भावना से आक्रमण करता है।

३—चंदेलों और चौहानों के युद्ध का कारण भविष्य पुराण के अनुसार कजली उत्सव देखने के लिए आये पृथ्वीराज के शिविर पर, जो शिरीष बन में पड़ा हुआ था रात्रि में परमर्दिदेव आक्रमण करते हैं। पृथ्वीराज के बहुत से सैनिक मारे जाते हैं और दोनों में खटक जाती है। पृथ्वीराज रासो के अनुसार पद्मावती के विवाह के समय रास्ते में मुहम्मद गोरी के युद्ध में घायल पृथ्वीराज के कुछ सैनिक मार्ग भूलकर महोबा आ जाते हैं और राजबाग में रुकते है। उस समय परमर्दिदेव की ओर से आक्रमण होता है। आल्हखंड इस युद्ध का कारण वेला के विवाह से जोड़ता है। पृथ्वीराज रासो के ही बेतवा युद्ध वर्णन वाले भाग में जगनिक जयचन्द से युद्ध का कारण बेला का विवाह ही बताता है।

४—रासो (एक)[1] में आल्हा ऊदल को पृथ्वीराज के आक्रमण की सूचना मलखान के भाई अरिसिंह के द्वारा प्राप्त होती है। रासो (दो) [2] के अनुसार मल्हनदे मनिया देव की पूजा करती हैं और वे आल्हा को स्वप्न देते हैं। आल्हखंड कहता है कि मल्हना देवी का स्तवन करती है और उनकी प्रेरणा से ऊदल महोबा आते हैं। भविष्य पुराण में भी मां शारदा की पूजा का ही

१. पृथ्वीराज रासो:महोबा समय—डा० रणधीर सिंह, खरेला की प्रति
२. " " हर नाथ सिंह परिहार की प्रति

वर्णन है। वीर विलास तथा जनकवि जगनिक नाटक में जगनिक आल्हा ऊदल को लेने जाते हैं।

५—भविष्य पुराण एवं आल्हखंड की कथा मे ऊदल, लाखन और उनके सहयोगी दिग्विजय या शिकार खेलने के बहाने महोबा आते हैं। आल्हा से वस्तुस्थिति छिपी रहती है। जबकि अन्य ग्रंथों में महोबा की रक्षा के लिए आल्हा भी साथ में प्रस्तुत होते हैं।

६—आल्हा की कथावस्तु में हर जगह देवलदेवी का चरित्र अति उज्ज्वल तथा वीर क्षत्राणी के देशभक्ति मूलक व्यक्तित्व को उजागर करता है। पर रासो (दो) में सामान्य व्यक्ति की तरह प्रतिशोध की भावना से ग्रस्त वह आल्हा ऊदल को महोबा जाने से रोकती है।

७—रासो (एक) के अतिरिक्त सभी ग्रंथों ने कजली महोत्सव के पूर्व ही सिरसा के युद्ध में मलखे का मारा जाना सिद्ध किया है। आल्हा ऊदल सिरसा से होते हुये महोबा जाते हैं किन्तु रासो (एक) में कजली की लड़ाई के समय मलखान स्वयं पत्र लिखकर आल्हा ऊदल को युद्ध के लिए आमंत्रित करता है।

८—सभी ग्रंथ और जनश्रुतियां इस बात पर एक मत है कि आल्हाऊदल योगियों के वेश में महोबा गये। आल्हखड और भविष्य पुराण के अनुसार नगर भ्रमण करते हुए वे महलो मे भी जाते है और सहायता करने का वचन देते हैं। रासो (एक) मे ब्रह्मा और जगनिक तथा रासो (दो) में परमाल और जगनिक योगियों से मिलने व उनका भेद लेने के लिए उनके शिविर तक जाते हैं।

९—आल्हखन्ड में ब्रह्मा युद्ध से पराङ्मुख होना चाहता है। रासो (एक) में वह युद्ध के लिए प्रस्तुत तो है, पर भयाक्रान्त है! रासो (दो) के अनुसार वह अकेले ही पृथ्वीराज से लोहा लेने के लिए संकल्पित है। भविष्य पुराण तथा रासो (दो) में परमर्दिदेव भी युद्ध मे उपस्थित होते है।

१०—भविष्य पुराण के अनुसार युद्ध के भीषण वातावरण में भादों कृष्ण अष्टमी तक कजलियाँ रुकी रहती हैं। आल्हखंड में भी कुछ ऐसा ही युद्ध का वातावरण सृजित रहता है। किन्तु रासो की दोनों प्रतियों में पर्व की तिथि एवं समय पर जब कजलियाँ खोंटी जा रही होती हैं, उस समय पृथ्वीराज आक्रमण करता है।

११—भविष्य पुराण में ब्रह्मा माहिल के कहने में आकर योगियों को अपना शत्रु समझ बैठता है। अन्य ग्रंथों में वह योगियों की ओर से आस्वस्त हैं।

१२ कीरत सागर के युद्ध में अंतत. पराजित पृथ्वीराज पुनः युद्ध की कामना लिए वापस लौटता है। सभी ग्रंथ इस बात से सहमत हैं।

आल्हखंड की कथावस्तु ऐतिहासिक आधारों पर निर्मित हुई है। इसके अधिकांश प्रमुख एवं सामान्य सभी पात्र ऐतिहासिक हैं और घटना भी इतिहास संमत। चौहानों और चंदेलों के इस वैमनस्य की पुष्टि विभिन्न शिलालेखों, शार्ङ्गधरपद्धति, प्रबंधचिंतामणि और विभिन्न जनश्रुतियों से होती है। उपर्युक्त रूपांतरों को अगर ऐतिहासिकता की कसौटी पर कसते हुए हम देखें तो निश्चित ही हम एक कथा केन्द्र तक पहुँच सकते हैं।

चंदेलों और चौहानों के युद्ध का प्रमुख कारण रासो ग्रंथों और लोक श्रुतियों के अनुसार पृथ्वीराज के घायल सामन्तों पर परमर्दिदेव का आक्रमण है। पृथ्वीराज जब पद्मावती से विवाह करने के लिए समुद्रशिखर गढ़ जाते हैं, तभी शहाबुद्दीन आक्रमण करता है और पृथ्वीराज उसे बंदी बना लेते हैं। इस युद्ध में घायल पृथ्वीराज के सामन्तों की पर्मर्दिदेव हत्या करवा देते हैं। इस कथन में पद्मावती की ऐतिहासिकता विवेच्य है। श्री अमृतलाल शील समुद्रशिखर की इस पद्मिनी को सर्वथा अप्रमाणिक और अनैतिहासिक मानते हैं। किन्तु डा० दशरथ शर्मा का विचार है कि आबू के परमार राजा की पुत्री रासो की महारानी इंछनी और पद्मावती सम्भवत: एक ही हैं। चारणों ने अज्ञानतावश इन्हें पृथक्कृत किया है। 'कान्हणदे प्रबंध' में पद्मावती के पिता का नाम 'पाहनबई' लिखा मिलता है, जो आबू के राजा धारावर्ष के छोटे भाई 'पहल्लादन' से साम्य रखता है। रासो की पद्मावती के पिता पद्मसेन >पद्म/पुरयन>पुलयन>पुल्लन>पालन भी प्रहल्लादन ही हैं। समुद्र शिखरगढ़ इसी आबू के पूर्व में कोई काल्पनिक स्थान है। रासो में इस स्थान का वर्णन इस प्रकार है—

आठ सहज असवार लै, जे ईछत घमसान
कालींजर गढ़ नृपतवर गयो वीर बलवान
गोरी साहब साह तब तहाँ कीन्ह घमसान
घायल भये पचास भर पकरि लिए सुलतान
ते भट फेरे सम्भरै संग दासी गुनमान
वे भूले महुबे परे राज बाग अकुलाय।

इन अर्द्धालियों में पृथ्वीराज का शिषरगढ़ कालिंजर है। यहीं मुहम्मद गोरी से युद्ध होता है और सामन्त भूल कर महोबा पहुँच जाते हैं। इतिहास से बहुत भटका हुआ वर्णन है।

रासो भी इस बात की पुष्टि करता है कि चौहानों तथा चंदेलों में बहुत पहले से ही सद्भावपूर्ण संबंध थे। बेला का विवाह दोनों साम्राज्यों को

जोड़ने की एक कड़ी था। अतः भविष्य पुराण का यह कथन अधिक सत्य दीख पड़ता है कि पृथ्वीराज तत्कालीन महोबा के आमात्य माहिल परिहार द्वारा आमन्त्रण पाकर बिना किसी युद्ध की तैयारी के कजली महोत्सव देखने के लिए आया था और परास्त हुआ था।

फिर प्रश्न उठता है कि परमाल ने पृथ्वीराज पर आक्रमण क्यों किया? रासो ग्रंथों के अनुसार महोबा के राजबाग में ठहरे पृथ्वीराज के घायल सामन्तों से परमाल का युद्ध हुआ था। इसमें आल्हा ऊदल भी सम्मिलित हुए थे। भविष्य पुराण के अनुसार यह आक्रमण सिरसा में पृथ्वीराज के शिविर पर हुआ था। आल्हखंड भी सिरसा के दो युद्धों की चर्चा करता है। सम्भवतः यह सिरसा का पहला युद्ध मलखान से किन्हीं सामन्तीय वाद विवादों को लेकर खड़ा हुआ हो और मलखान के परमाल का सामन्त होने से इस युद्ध को परमाल से जोड़ दिया गया हो।

मलखान के जीवित रहते परमाल द्वारा सिरसा मे पृथ्वीराज पर आक्रमण करना अपना औचित्य नहीं रखता और यदि यह मानें कि मलखान इसके पहले ही मारा जा चुका था तो सिरसा और उसके आस-पास का भू-भाग पृथ्वीराज के अधिकार म था। सिरसा के दूसरे युद्ध मे परमाल ने मलखान को सैनिक सहायता नही दी थी। इससे भी पहले युद्ध की पुष्टि होती है। हो सकता है चौहानों से विरोध का दोषी मलखान को ठहराकर ही परमाल ने उसे बान और कमान भेजकर अपनी रक्षा स्वयं करने को कहा हो।

कजली के अवसर पर मलखान जीवित था ऐसा रासो (एक) मानता है। भविष्य पुराण का मत है कि कजली उत्सव के पहले ही पृथ्वीराज से युद्ध करते हुए मलखान मारा गया था। तब फिर भविष्य पुराण का ही यह तथ्य कि पृथ्वीराज ने परमर्दिदेव के आक्रमण से खिन्न होकर उसे अपना परम शत्रु माना था कहाँ खड़ा होता है। इस प्रकार मलखान को मारकर तो पृथ्वीराज स्वयं शत्रुता मोल लेता है।

वस्तुतः मलखान बेतवा के युद्ध के पूर्व मारा जाता है। तभी तो परमाल को आल्हा ऊदल और जयचन्द की सहायता की आवश्यकता होती है। जगनिक इसी युद्ध की प्रस्तावना में आल्हा ऊदल को मानने के लिए कन्नोज जाता है और मलखान की मृत्यु का समाचार सुनाता है। आल्हा ऊदल आते हैं और युद्ध होता है। रासो म यही कथा प्रमुख है। कीरत सागर और बेतवा का युद्ध दोनों कुछ समान घटनाओं के आधार पर एक दूसरे को कुछ इस प्रकार से आच्छादित करते हैं कि उन्हें अलग-अलग करने में कथाकार आपेक्षित संयम नहीं रख सका है।

घसीटा गया है।

इसी प्रकार कीरत सागर के युद्ध में आल्हा को भी भविष्य पुराण और आल्हाखन्ड के अनुसार कीरत सागर के युद्ध में ऊदल आल्हा से छिपाकर लाखन को कजली दिखाने के लिए महोबा आता है। यह ईश्वरीय प्रेरणा भी हो सकती है। योगियों का वेश धारण करने का यही कारण हो सकता है अन्यथा इसका कोई औचित्य नहीं।

रूढ़ियाँ और वर्णनायें—आल्हखंड के वस्तुविन्यास में आयोजित रूढ़ियों की चर्चा भी समीचीन है। अनेक घटनापरक व्यापार परम्पराओं से प्रयुक्त होकर रूढ़ हो जाते है। हिन्दू विचारधारा में इन रूढ़ व्यापारों की संख्या कम नहीं है। अन्य संस्कृतियों के योग से भी उनकी वृद्धि हुई है। लोक रुची एवं लोक कथाओं से तो इन रूढ़ियों का गहरा सम्बन्ध है। आल्हखंड की पाण्डुलिपि शताब्दियों तक लोक मुख में सुरक्षित रहने से उसमें बहुत सी कथानक रूढ़ियाँ समजात भाव से घुल-मिल गई हैं।

संदेशवाहक शुकादि :—संस्कृत और प्राकृत से लेकर हिन्दी तक हंस, शुक, सारिका, काग आदि कितने ही संदेश वाहक काव्य और लोक गीतों में प्राप्त होते हैं। लोक गाथाओं में तो इनसे न जाने कितने सहयोग लिए गये हैं। आल्हखन्ड में मछला भी अपने विवाह का संदेश महोबा भेजने के लिए सुआ (शुक) का सहयोग लेती है। चन्द्रावलि हीरामन तोते के गले में पत्र बाँधकर ऊदल की विपत्ति की सूचना महोबा पहुँचाती है तो महारानी मल्हना भी सुआ के द्वारा ही पत्र भेजकर बेटी को संबोधित करती है।

आल्हखन्ड में इन पक्षियों का उपयोग संदेशवाहक के अतिरिक्त गुप्तचर के रूप में भी हुआ है। मछला हरण में उसकी खोज के लिये गिद्ध छोड़े जाते हैं। संदेशवाहक के रूप में मालिन, नाइन आदि से भी सहयोग लेने की चर्चा आल्हखन्ड में आई है।

योगी वेष—लोक में जोगियों के बहुत से किस्से प्रचलित हैं। उनके चमत्कारों से लोग बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। राजा-महाराजा भी उनकी शाप से डरते हैं। अंतःपुर तक उनकी पैठ हो जाती है। लोक की अस्थाओं को छलने के भी वे अच्छे साधन हैं। आल्हखन्ड में अल्हा-ऊदल योगी वेष में ही माँड़ों का सारा भेद प्राप्त करते हैं और उसे ध्वस्त कर अपना बदला लेते हैं। ऐसे ही बौरीगढ़ की लड़ाई में, सुलखान के ब्याह में और इंदल की खोज में आल्हा-ऊदल योगी बनकर ही अपना सारा काम बनाते हैं। कजली के युद्ध में भी अपने को परमाल से छिपाये रखने के लिए लाखन और ऊदल योगी वेष धारण करते हैं।

आल्हखंड में न जाने कहाँ-कहाँ और किस-किस रूप में योगीवेष का स्तवन किया गया है। इंदल का तीसरा विवाह सिंहल द्वीप में होता है। वह अकेले ही योगी वेष में सिंहल द्वीप जाता है। एक बगीचे में धूनी रमाता है। वहाँ का राजा योगी की अभ्यर्थना करता है। बेटी पद्मिनी भी दर्शन करने आती है। वह योगी को अपने महलों में बुलाती है और योगी के साथ केलि करती है। योगी का यह रूप कुछ अंश तक पद्मावत के रत्नसेन के समानांतर खड़ा है।

जादू एवं दैवीय शक्तियों का प्रयोग :—लोक की चमत्कारिक रुचि के अनुकूल कथाओं में जादू और जादूगरनियों के प्रसंग भी कम नहीं। आल्हखंड की तो लगभग सभी लड़ाइयों में जादू, जादूगरिनी तथा दैवीय चमत्कारिक वस्तुओं का प्रयोग बिखरा पड़ा है। नरवर गढ़ में मालिन जादू चलाती है तो ऊदल हरण में शोभा नटिनी। मलखे के ब्याह में श्यामा भगतिन जादू की पुड़िया छोड़ती है, तो इंदल हरण में राजकुमारी चित्ररेखा। (सुनवाँ) मछला हरण में तो देवी चंडिका स्वयं मछला की जादू कीलती दीख पड़ती है।

इसी प्रकार लगभग सभी लड़ाइयों में किसी न किसी दैवीशक्ति का प्रयोग अवश्य हुआ है। नैनागढ़ में अमर ढोल जो इंद्र से प्राप्त है, मरे हुए को जीवित कर देता है। पथरीगढ़ के राजा के पास अगिनिया घोड़ा है। वह जिस ओर पूंछ घुमाता है, आगी जग जाती है। आल्हा-ऊदल के पास उड़ने वाले घोड़े हैं। नरवर गढ़ में तो काठ का घोड़ा, शैल शनीचर और अजीत बाण तीन-तीन दैवी संपादायें हैं।

देवी देवताओं का प्रत्यक्ष सहयोग :—देवी बड़ी ही दयालु है। उसके भक्तों पर संकट पड़े और वह मढ़िया में बैठी रहे, यह कैसे हो सकता है। लोक की आस्था उसे कथानकों में अपने बीच खींच लाई है। कजली की लड़ाई में महारानी मल्हना के स्तवन करने पर मां शारदा का ऊदल को स्वप्न देना तो एक सहज घटना है, परन्तु बेला के आभूषण लेने के लिए देवी का इन्द्रलोक अथवा मछला हरण में पथरिया कोट से कनवज जाकर पहले मछला के जादू जाना को कीलना फिर उसे पलंग सहित पथरिया कोट उठा लाना सामान्य सहयोग नहीं। आल्हखंड में और भी स्थानों पर इसी प्रकार के प्रत्यक्ष दैवीय सहयोग दृष्टिगत होते हैं।

स्त्री का सौन्दर्य युद्ध का कारण:—नारी को कारण बनाकर युद्ध की विभीषिका में साम्राज्य को झोंक देने की यह प्रवृत्ति कथानक रूढ़ बन गई है। नायिका की सुन्दरता पर नायक मुग्ध हो जाता है, अथवा नायिका किसी भद्र

नायक को वरण करती है, किन्तु परिवार के सदस्य विरोध करते हैं अथवा नारी का अपहरण हो जाता है और दो पक्षों में भंयकर युद्ध होते हैं। आल्हखन्ड की तो दो तिहाई लड़ाइयाँ इसी आधार भूमि पर खड़ी की गई हैं। पथरिया कोट की लड़ाई का कारण मछला हरण है तो पथरीगढ़, नखर, दिल्ली आदि से लड़ाई का कारण बलात् उनकी बेटी लेना है। नैना गढ़ की लड़ाई तो मछला द्वारा आल्हा को अपना पति स्वीकार करने के कारण होती है।

विवाह के लिये हठ:—लोक जीवन में वैवाहिक संस्कार का बड़ा महत्व है। छोटे और बड़े सभी के आनंदोल्लास का क्षण-विवाह। चढ़ती हुई उमर का कौतूहल, जिसकी सभी सहेलियों के विवाह हो चुके हैं। आल्हखन्ड में भी यह स्थिति कथारूढ़ि के रूप में—गजमोतिन, वेला, केसरि (धांधू की पत्नी) की विडम्बना को स्वर देती है—

> मोरे संग की जितनी सखियाँ उन सबको हो गओ बिआव
> तानों मारें देख-देख कें, हम सों करें हँसाआ आय।
> क्या कुल हीने बाप तुम्हारे अब तक काय न भओ विआव

आल्हखन्ड में और भी बहुत सी कथानक रूढ़ियाँ—हर लड़ाई में माहिल का योग, वीरों को खंदक में डालना और राजकुमारी का उनसे मिलने जाना, कुट्टिनी संदर्भ आदि—मूल कथा से एक मिल हो गई हैं। प्रेमिका के प्रेम में दीवाना होकर प्रेमी का उसकी खोज में निकल पड़ना, जैसे—इंदल पद्मावती की खोज में निकल पड़ता है, अथवा नायिका के सौन्दर्य से प्रभावित होकर अपने कर्तव्य से विमुख होना यथा—ऊदल काबुल का रास्ता भूलकर कभी मालिन बनता है तो कभी योगी जैसी अभारतीय कथानक रूढ़ियाँ भी आत्मसात हो गई हैं।

आल्हखन्ड में काव्यरूढ़ियों और वर्णनाओं का पिष्ट पेषण भी पर्याप्त हुआ है। प्रबन्ध के प्रारंभ में कवि ने दोहा, त्रिभंगी, सवैया, कुंडलियाँ और चौपाई छन्दों में पंचदेव, गणेश, राम, शंकर, कृष्ण और देवी की मंगल स्तुति की है। तदोपरांत सुमिरनी में सभी पारंपरित देवता, तीर्थ, व्यास, नारद, हनुमान आदि का स्तवन किया है और अपनी मनोकामना की अभिलाषा भी की है। ऐसे ही स्मर्ण सभी लड़ाइयों के प्रारंभ में काव्य रूढ़ि बन गये हैं।

युद्ध की तैयारी, उसका वर्णन, अस्त्रों-शस्त्रों की परिगणना, घोड़ों-हाथियों आदि की जातियाँ, पेड़-पौधों और विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को गिनाने के प्रसंग अधिकांश लड़ाइयों में दुहराये गये हैं। इन वर्णनाओं द्वारा

कवि अथवा गायक पाठकों एवं श्रोताओं पर अपने पाण्डित्य तथा परिज्ञान की छाप छोड़ना चाहता है। इसी छाप छोड़ने की उधेड़ बुन में आल्हखन्ड की कथावस्तु कहीं-कहीं अत्युक्ति की सीमा रेखा से आगे अविश्वास को छूती हुई हास्यास्पद हो गई है। किन्तु इन सबके बाद भी इसकी वर्णनायें, इसकी चित्रात्मकता, इसकी हृदय तक उतर जाने की गति और ऊर्जा प्रवाह अपनी सानी नहीं रखती। आज के इस बौद्धिक युग में भी आल्हखन्ड की लोकप्रियता अक्षुण्ण है। यह सब इसकी ऊर्जावित वर्णनाओं और चेतना शक्ति का ही परिणाम है। युद्ध सम्बन्धी एक वर्णन देखिये—

> दोनों फोजन के अंतर में रहिगो डेढ़ कदम मैदान।
> खेंच सिरोही लई छत्रिन ने डारन लगे खेत खरिहान।
> पैदल के संग पैदल भिर गये उर असवारन में असवार।
> खट खट खट खट तेगा बाजै रण मां छपक चलै तलवार।
> चलै जनब्बी औ गुजराती, माना साही चलै कटार।
> मुरचन मुरचन नचै बेंदुला, ऊदल कहैं पुकार पुकार।
> नौकर चाकर तुम नाहीं हो, तुम सब भैया लगो हमार।
> भागि न जइयो कोई समुहे ते यारो रखिओ धर्म हमार।

इन वर्णनाओं के पिष्टपेषण का भी अपना आनंद है।

● समग्रतः लोक ऊर्जा का स्रोत आल्हखंड कथात्मक शैली में लिखा गया लोक प्रबंध था। इसीलिए लोक ने इसे शदियों तक सहेजा इसकी संरक्षा की। लिखित रूप के अभाव में यह मौखिक ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता रहा। परिणामतः यह जो एक महाकृति थी, जो एक अन अवरुद्ध धारा थी छोटे-छोटे खंडो में टूट गई और केवल लड़ाइयों तक ही सीमित रह गई। इसके क्रम की विशृंखल हो गये।

● इस मौखिक कथात्मक परम्परा का एक दूसरा प्रभाव यह हुआ कि लोक ने इसमें अपनी रुचियों के अनुकूल कथानक रूढ़ियों को पचाकर इसे अतिरंजनात्मक वर्णनाओं से बोझिल बना दिया। इतना बोझिल कि कल्पना के श्रृंगार से कथावस्तु दब गई। वास्तविक रेखायें धूमिल हो गई।

● भविष्य पुराण, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, जगतराज दिग्विजय, वीर विकास आदि ग्रन्थों एवं जनश्रुतियों में आल्हा की कथा के विभिन्न रूपांतरण मिलते हैं। यह सब कवि-कर्म और लोक रुचियों का प्रभाव है। आवश्यकता है इन परिवर्तित और परिवर्धित संस्करणों के बीच मूल कथा की परख की।

आल्हखण्ड का भाव-सौन्दर्य

—श्रीमती प्रमोद पाठक

लोकहृदय की अभिव्यक्ति लोकवाणी मे होती है, जिसे लोक साहित्य की संज्ञा प्राप्त होती है। सामान्यतः लोक शब्द का यही व्यावहारिक प्रयोग है। लोक अपने हृदय से प्रेम की रसवन्ती धारा बहाता रहता है, जो पर्वत के शिलाखन्डों से अदृश्य रूप मे रिसते हुए गंगा और यमुना जैसे विशाल प्रवाहों का रूप धारण कर लेती है। यही है हिमालय जैसी लोकशक्ति की अभिव्यक्ति और यही है जनचेतना और जनसंस्कृति की अक्षुण्ण और पुनीत धारा। आल्हखन्ड इसी को चरितार्थ करने वाला लोककाव्य है, जो लगभग ८०० शताब्दियों के बाद भी आज भी लोककंठ में उसी गरिमा के साथ जीवित है। उसके शाश्वत मूल्य का प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है? उसकी भाव और अनुभूतियां लोकहृदय में पल्लवित-पुष्पित होने के कारण दो रूपों में सामने आती हैं—व्यक्तिपरक भावानुभूतियां और समाजपरक भावानुभूतियां। व्यक्तिपरक भावों में भावों का सहज उद्रेक प्रधान होता है। इसमें व्यक्ति की दृष्टि समाजोन्मुखी न होकर अंतर्तम की भावनाओ से प्रेरित होने के कारण स्वहित से प्रेरित होती है, वहीं समाजोन्मुखी भावों में आदर्शवादी विचारधारा के सम्मुख आंतरिक भावनाएँ चीत्कार करती रह जाती हैं। एक समेटना चाहता है, दूसरे भाव बलिदान करना जानते हैं। यहां व्यक्ति स्वहित के स्थान पर जनहित से प्रेरित होकर व्यक्तिगत रागद्वेष से परे कर्त्तव्य क्षेत्र में आ डटता है।

चम्पा चमेली फूल रही है, आम बौरा रहे हैं, नीबू, नारंगी, मेंहदी, करोंदी आदि सभी वृक्ष सघन होकर मौसम को मदमस्त बना रहे हैं, ऐसे में नाजुक उमर दूसरे सखियों का साथ, परस्पर हास-परिहास अविवाहिता सखियों के मन में विवाह के प्रति राग उत्पन्न करते हैं। ऊपर से ऋतुओं की उद्दीपनकारी प्रकृति मन में हूक पैदा करती है। इस तरह के वर्णन व्यक्तिपरक न होकर समष्टिपरक हो गये हैं—

मास असाढ़ घटा नभ काली, पानी बरसते है चहुँ ओर।
टपकत बूँद गिरत छाती पर, गुइयां बिरह जनावत जोर॥

× × ×

भादों मास अँधेरी छाई, चमके कौंधा जिया डराय।
सूनी सेज पिया बिन आली, पड़ती नींद रात में नांय॥

चन्द्रावली का विवाह हो रहा है। एक तो चन्द्रवली का अद्वितीय रूप सौंदर्य, दूसरे सौंदर्य के उपकारक अमूल्य अगणित वस्त्राभूषण, ऊपर से रूप और ऐश्वर्य की खान 'ऊन्दल' जैसा वर, नारियों के मन में भला ईर्ष्या का विषय क्यों न बनता। ऐसे स्थलों में भावों की सूक्ष्मता देखते ही बनती है—

जैसी छबि है चन्द्रवलि की, तैसे आप मिले भरतार।
गौने वाली मौनी हो गई, ब्याहीं लरज-लरज रह जांय॥
बदन निहारें तब दुख मानें औ मन ही मन करें बिचार।

इन स्थलो पर ईर्ष्या नामक भाव की व्यंजना बड़ी सूक्ष्मता से हुई है। जिन सखियों के गौने हो गये हैं, वे चुप रह गईं क्योंकि अब उनके लिये और क्या हो सकता है। ब्याही शर्म के मारे झुक झुक पड़ती है कि शायद हमारे पिया भी ऐसे ही हों। फिर चन्द्रावली का सौंदर्य देखकर सबसे पहले उससे अपने मुख की तुलना करती हैं और दुख मानती हैं, जो नारी स्वभाव का आदिम सत्य है।

आल्हखन्ड में 'आल्ह मनौवा' 'जमुना हरण' माड़ों की लड़ाई, नदी बेतवे की लड़ाई व अन्य लड़ाइयों में रानियों के सती होने के प्रसंग अत्यन्त मार्मिक बन पड़े है। लाखनि राना महोबा जाने को तैयार हैं। रानी कुसुमा से वे आज्ञा लेने जाते हैं, तब कुसुमा का रूप-सौंदर्य पल भर को उन्हें मूछित कर देता है, कर्त्तव्य से विमुख कर देता है, किन्तु कुसुमा उन्हें क्षत्रियत्व का स्मरण कराती है—

नैन बान जब मूछित हो गये, रन मे कहा करै तलवार।

लाखन सचेत हो जाते हैं, तब पति को रण में जाने की खबर रानी कुसुमा को बेचैन कर देती है। पति को रण में न जाने के लिये अत्यन्त मार्मिक शब्दों में कहती है—

सावन सूनो है बदली बिन, सूनो कमल बिना है ताल।
रैन तो सूनी है चंदा बिन, कंत बिना है सूनी नार॥

लाखन के न मानने पर तड़पकर आल्हा ऊदल को भी भला बुरा कहती है, जो उसके पति को युद्ध-क्षेत्र के लिये उद्यत किये हैं। प्रकृति के उपकरणों से भी व्यथित होकर याचना करती है—

ऊपर चितै कही व्याकुल हुई, बहिनि बदरिया होउ सहाय।
कारी बदरिया तुमको सुमरौं, कौंधा बीरन की बलि जाऊँ।
झिमकि के बरसो तुम अंटा पर, कंता आज रैनि रहि जायँ॥

प्रिय से बहुत मनुहार की, फिर भी प्रिय नहीं माने, तब बेचारी अबला और करे भी क्या ? बदली मेघ और बिजली से ही सहायता माँगती है। यह भाव संस्कृत और हिन्दी कवियों में बहुत आया है, पर यहाँ 'कंता आज रैन रहि जायें' में लोक हृदय की कैसी सजीव अभिव्यक्ति है। रानी सद्यपरणीता है, प्रिय का सानिध्य उसे प्राप्त नहीं है, ऊपर से उद्दीपनकारी प्रकृति उसे और भी बेचैन कर देती है। प्रिय जाने से मानते नहीं हैं, तब बिजली और बादल से कहती है कि ऐ बिजली और बादल, तुम्हीं बरस कर मेरे प्रिय का रास्ता रोक लो, जिससे वे कम-से-कम आज रात को ही रुक जायँ। यहाँ अभिलाषा और दीनता के भाव बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित हुये हैं। किन्तु जब पति की कर्तव्यनिष्ठा देखती है तब भाव में परिवर्तन होता है। वीरत्व जागता है और यह स्वयं प्रिय को कर्त्तव्य का मार्ग दिखाती है—

> पाँव पिछारूं तुम मत धरियो, नहिं क्षत्रियपन जाव नसाय।
> जो सुन पैहों भगे कनौजी, तो मैं पेट फार मर जाऊँ।
> रन के सन्मुख जो मर जैहों, ह्वइहों सती तुम्हारे साथ॥

यमुना-हरण प्रसंग में 'कमला-नवला' प्रसंग भी इतना ही मार्मिक बन पड़ा है। एक ओर शृंगार और वीर भाव में द्वन्द्व है, दूसरी ओर व्यक्ति और समाजहित में विजय वीर भाव और समाजहित की होती है। इसीलिये इन स्थलों पर शृंगार भाव प्रधान होते हुये भी वीरभाव के सम्मुख टिक नहीं पाते। शृंगार यहाँ सतही हो गया है और वीरभाव प्रधान। आंतरिक भावनाओं का उद्वेलन जहाँ कर्त्तव्यपथ से विमुख करने का प्रयास करता है, वहाँ जातिहित से प्रेरित वीरभाव भावनाओं को युद्ध क्षेत्र के लिये बाध्य कर देता है। जहाँ न प्रिय को प्रियतमा की परवाह है, न प्रियतमा को प्रिय की, न बेटे को माँ की, न माँ को बेटे की, आल्हखण्ड में सर्वत्र ऐसे प्रसंगों में वीरभाव ने ही प्रतिष्ठा पाई है। लाखन बारह रानियों का इकलौता पुत्र है, इसलिये राजा रानी का बेटे को रण में भेजने से जी घबड़ाना स्वाभाविक है, इस कारण वह अत्यंत आर्त शब्दों में ऊदल से लाखन को रण में न ले जाने की याचना करती है—

> आस लकरिया एक राजा की, सो तुम मानो कही हमार।
> संग न लै जाओ तुम लाखन को, रानी देवकुँवरि के लाल॥

ऊदल के शपथ याद दिलाने पर विवश हो लाखन का रण मे जाने के लिये तिलक करती है, तब मातृ-हृदय की कोमल सम्वेदना बहुत ही मार्मिक

बन पड़ी है। पुत्र की कुशलता के लिये सभी वीरों से सहायता की याचना करती है। किन्तु युद्ध में प्रायः सभी तितर बितर हो जाते हैं, केवल वाहन ही साथ देता है। अतः रानी हथिनी से भी अनुनय विनय करने को नहीं चूकती —

> हाथ पकरि कै तब लाखन को, औ भरुही से कही सुनाय।
> तुमको सौंपति हौं लाखमि को, रण मत धरियो पांव पिछार।
> रोवना करकें तब तिलकानें, औ छाती सें लियो लगाय॥

पृथ्वीराज के महोबा घेरे जाने पर रूठे आल्हा-ऊदल जब महोबा आने को तैयार नहीं होते, तब रानी माल्हन दे और देवकुँवरि वात्सल्य की दुहाई देती हैं, जो आल्हा ऊदल को विचलित कर देती हैं। यहाँ जातिसम्मान और वात्सल्य भाव एक साथ आये हैं—

> डोला जैहै चंद्रावलि कौ, तब चलि जैहै पाग तुम्हार।
> याही दिन को हम पालो है, को असमय में ऐहै काम।
> सो तुम छाय रहे कनउज में, हम पर परी आपदा आय॥

आल्हा जैसे धीरोदात्त पात्र में भावों का उच्चावचन 'आल्ह-मनौवा' खंड में सबसे अधिक है। आल्हा किसी भी सूरत में महोबा आने को तैयार नहीं हैं। तब माल्हनदे कैसे मार्मिक शब्दों में आल्हा को खबर पहुँचाती है, कि जहाँ रानी देवकुँवरि रसोई बनाकर तुमको खिलाती थी, वहाँ अब गायें कटने लगी हैं। तुम्हारी पवित्र मातृभूमि बुरी तरह रौंदी जा रही है। जब तुम्हारी बहिन का डोला पृथ्वीराज ले जायेगा, तब समाज में क्या इज्जत होगी ? एक ओर पावनभूमि की रक्षा, दूसरी ओर जाति-सम्मान आखिर आल्हा ऊदल को महोबा लौटने को बेबस कर ही देते हैं, किन्तु जैसे ही वीर मलखान की मृत्यु का समाचार आल्हा जगनिक से सुनते हैं, पुनः उनके मन में परमाल राजा के प्रति घृणा का भाव उमड़ता है। यहाँ प्रेम और करुण-भाव के कारण उत्पन्न घृणा का भाव उन्हें पुनः विचलित कर देता है—

> आल्हा, देवा, इन्दल जगनिक, रोवन लगे जार बेजार।
> हा हा करि सब रोवन लागे, सिगरो रोय उठो रनिवास।
> आल्हा आये दरवाजे पर, घोड़न जीन लियो उतराय।
> तौ लौ जगनिक गै द्वारे पै, तब आल्हा ते कही सुनाय।
> काहे जीन उतार दियो तुम, सो तुम देउ हाल बतलाय।
> बोले आल्हा तब जगनिक ते, छटिहा बसै रजा परमाल।
> मलिखे मारेगे सिरसा में, नाहीं खबर दई पहुँचाय।

फलतः आल्हा महोबा जाना स्थगित करते हैं, तब देवकुंवरि के ये वाक्य ऊदल को तीर समान लगते है—

होती बेटी जो हमरे एक, कोई राजा जाती ब्याह ।
कुम्मक ल्योती त्यहि राजा ते, औ महुबे को देति पठाय ।।

'आल्ह-मनोवा' नामक खण्ड में भावों का उतार-चढ़ाव, तीव्रता, गहनता, सूक्ष्मता, शब्दों द्वारा भावनाओं पर प्रहार, फलस्वरूप भावों के आवर्तन-प्रत्यावर्तन सभी बड़ी सबलता से चित्रित है। सभी लड़ाइयों में वीर भाव के सहायक रौद्र, भयानक और वीभत्स रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। तत्कालीन सामाजिक वातावरण के अनुरूप गुरु गोरखनाथ, अमर नाथ के शिष्य—शिष्याओं के जादुई प्रभाव में प्रभाव में अद्भुत रस का संचार हुआ है।

युद्ध के लिये रणसज्जा, युद्ध प्रयाण, सैन्य-संगठन सेना की कार्यप्रणाली आदि सभी वर्णन आल्हखण्ड में बड़ी व्यापकता से हुये हैं। युद्ध क्षेत्र में हो रहे आपसी संवादों में वीरभाव टपका पड़ता है—

इतनी सुन लई जब ताहर ने, गुस्सा ह्वई कही सुनाय ।
कही हमारी अबहू मानो, लाखनि लौट कनौजे जाव ।
प्रान तुम्हारे क्यों भारू हैं, जो नदिया पर दिहो गँवाय ।।

किसी वीर को इससे अधिक चुनौती और क्या हो सकती है, तुरन्त लाखन जवाब देते हैं—

आगे बढ़कें हम आये हैं, सो क्यों धरें पिछारूँ पांय ।
धर्म क्षत्रियन को यह नाहीं, चाहे प्रान रहैं कै जांय ।।
मर्द बनाये मर जैबे को, खटिया परकै मरै बलाय ।
होय पराक्रम जो तुमरे मैं, तो तुम हमहिं देउ दिखलाय ।।

'माड़ो की लड़ाई' में माहिलदेव जब ऊदल को दस्सराज और बच्छराज का दुर्दान्त सुनाता है, तब उस समय ऊदल का रौद्र रूप अत्यंत प्रभावी बन पड़ा है—

इतनी सुनकें ऊदल तड़पे, चोली खंड-खंड हुइ जाय ।
छाय लालरी गै नैनन में, त्योरी चढ़ी उदयसिंह क्यार ।।

×   ×   ×

बदला लेहौं अपने बाप को, तब जियरा की डाह बुझाय ।
मूड़ काटकें में जम्बे को, सो महुबे मे देऊं टंगाय ।।

युद्ध की विभीषिका में वीभत्स रस का सफल निर्वाह हुआ है—

छुटे पिचक्का हैं लोहुन के, औ बुबकारिन बोलें घाव ।

हौदा भरिगे तहँ लोहू सें, औ चुचुआत फिरें असवार ।
बूड़ि जुनफियां गईं लोहू से, चरबी गई अंग लपटाय ।।

×   ×   ×

कटिगे कल्ला जिन घोड़न के, सो गिर परे भूमि भहराय ।
कटि भुजदन्डे रजपूतन के, चेहरा कटे सिपाहिन क्यार ।।

समाजपरक भावों में समाज की उस अवस्था का चित्रण है, जब हिन्दू राजा परस्पर छोटी-छोटी बातों पर उत्तेजित होकर युद्ध करने में अपनी शक्ति क्षीण कर रहे थे। यवनों के आपसी वैमनस्यता का लाभ उठाकर भारत पर अपना अधिकार कर लिया था। भारत भूमि दासता की जंजीरों में जकड़कर बुरी तरह लूटी-खसोटी जा रही थी, ऐसी स्थिति में यदि आल्हा, ऊदल, पृथ्वीराज, लाखन आदि सभी अद्वितीय वीर परस्पर मिलकर विदेशी आक्रमणकारियों से लोहा लेते तो क्या भारत की ऐसी दुर्दशा होती ?

ऐसे भाव जो देशकाल और परिस्थितियों के अनुरूप बनते बिगड़ते रहते हैं, आल्हखन्ड में बहुत अधिक हैं। इन भावनाओं का जाग्रत करने में माहिलदेव ऐसा पात्र है, जो अपनी वाक्-चातुरी से सभी के मन में सहानुभूति और विश्वास अर्जित कर अपनी कूटनीति से सर्वत्र युद्ध और पतन का कारण बनता है। इन स्थलों पर भावानुगामी भाषा का कमाल अधिक है, जो भावनाओं पर तीखा प्रहार करके युद्ध को संधि और संधि को युद्ध में बदल देता है। चंद्रावली का विवाह शान्तिपूर्ण तरीके से हो गया। अब माहिल के मन में चैन कहाँ ? तुरन्त वीरशाह को उकसाकर बखेड़ा खड़ा करता है कि बारात में आल्हा-ऊदल पारस करेंगे, तब कुलीन परिहारों का धर्म नष्ट हो जाये क्योंकि बनाफरों की जाति ओछी है—

जाति बनाफर की ओछी है, कोऊ न पियै घड़ा को नीर ।
जिन घर कोऊ पानी न पीवै, तिन घर पुत्र बिहाये आय ।।

वीरशाह जो अब तक पूर्णतः संतुष्ट थे, माहिल की बातें सुनकर आखिर भड़क ही उठते हैं। माहिल के वाक्य उन्हें जाति-अपमान का ज्ञान कराते हैं। फलतः बारात भोजन नहीं करती। यह बात चंदेलों के लिये अपमान जनक होती है। अत. वे आल्हा को बारात की भोजन-व्यवस्था से अलग कर देते हैं। इधर बारता के सत्कार में आल्हा की उपेक्षा हो जाती है, उनके भी आत्म सम्मान को ठेस पहुँचती है, उधर वीरशाह आल्ह के फाटक पर थूककर बुरा भला कहता है, फिर युद्ध कैसे न होता। आत्म सम्मान, वीरत्व और

घृणा सभी भाव ऐसे प्रसंगों में एक जुट हो गये हैं। माहिल की करामत पूरे राजाओं में आपसी वैमनस्यता का कारण बनती है। परमाल और पृथ्वीराज की शत्रुता में, आल्हा के महोबा से निकाले जाने में मलखान को धोखे से मरवाने में माहिल की ही कूटनीति कार्य करती है। वह बड़े मर्मभेदी वाक्यों से लोगों के मन में द्वेष, बैर, ईर्ष्या, वीरता आदि भाव जगाकर एक दूसरे को रण में जूझने को बाध्य कर देता है। इस दृष्टि से वह एक बहुत चतुर मनोवैज्ञानिक साबित होता है, जो बड़ी आसानी से बुद्धिजीवियों और वीरों के भावों में आवर्तन और प्रत्यावर्तन कर देता है।

भावों के अनुरूप संवाद, भाषा, छन्द, अलंकार, शब्दशक्तियाँ आदि सभी सार्थक सिद्ध हुये हैं। वीरभाव के अनुरूप संवादों और भाषा का प्रवाह देखिये--

लानत ऐसी रजपूती पर, तेगा बाँधन को धिक्कार।
मरजी होवे जो लड़ने की, तो तुम करो सामना आय॥

\+ \+ \+

खट् खट् तेगा बाजन लागे, बोले छपक-छपक तलवार।
चले जुनब्बी औ गुजराती, ऊना चले बिलायत क्यार।
बाजे तेगा बर्दवान के, कट-कट गिरें केसरिया ज्वान॥

अलंकारों का प्रयोग भी वीरभावों को उद्दीप्त करने में सहायक है—

मेघ डम्बरी बड़े-बड़े हाथी, लागे साथ कनवजी राय।
मानो मेघ माल लै धाये, गिरि कज्जल से पड़े दिखाय॥

\+ \+ \+

मढ़े दंत गज गिरि से दमकें, जैसे चपला घन चमकाँय।

समग्रतः आल्हखण्ड उत्कृष्ट वीरकाव्य है, जिसमे सभी भावों का आयोजन बड़ी सबलता से हुआ है। वीरत्व का अजस्त्र स्त्रोत तो जैसे अपनी स्वाभाविक गति से छलका पड़ता है, जबकि समकालिक वीरकाव्यों में भाव की अपेक्षा भाषा का चमत्कार अधिक है, अत: भाषा से वीरभाव स्त्रवित हुआ है। इस दृष्टि से यहाँ भावानुगामी भाषा चमत्कार प्रधान हो जाती है, जबकि आल्हखण्ड में भाषा भावों की अनुगामिनी है। भाव अपने आप टपकते है। शृंगारी भाव यहाँ सतही हो गया है, वीरभाव प्रधान है। भाषा, संवाद, अलंकार, छन्द और शब्द शक्तियों के प्रयोग से भावों में सूक्ष्मता, गहनता व प्रभविष्णुता आई है।

आल्हखण्ड की भाषा

डा० रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल

१. हिन्दी-प्रदेश का लोक-विश्रुत काव्य 'आल्हा' जो कि शिक्षितों के बीच 'आल्हखण्ड' के नाम से जाना जा रहा है, बनाफर वीरों (आल्हा, ऊदल, मलखान और इन्दल—) की अमर गाथा को लेकर संरचित है। ये क्षत्री-वीर वय-देवी से छोटी सी आयु उधार लेकर अवतरित हुए थे; इनका ध्येय वाक्य था—

'बारा बरस लौ कूकर जीयें, औ सोलह लौं जियें सियार।
अठारा बरस लौं छत्री जीवें, आगें जीवन कौं धिरकार॥

और इस अल्पायु में ही इन्होंने समूचे उत्तर भारत को अपने घोड़ों की टापों से रौंद डाला। इतिहास-प्रसिद्ध हिन्दू-सम्राट पृथ्वीराज चौहान का मान-मर्दन करने वाले इन वीरों की साहसिक गाथायें अनेकाकार होकर लोक-मानस में समा गई हैं।

२. इतिहासज्ञ कहते है कि बनाफर 'बनस्पर' हूण की संतान थे। ईसा की आस-पास की शताब्दियों में शक-हूण सिदियन आदि विदेशी जातियाँ भारत में प्रवेश पाती गईं और प्रभुत्वहीन होने पर सूर्य-चन्द्रवंशी क्षत्रियों की नई-नई 'कुरियों' के रूप में अपना स्थान बनाती गईं। ऐसी स्थिति में संभावना यही है कि कुलीन क्षत्रियों ने इन्हें सामाजिक मर्यादा प्रदान न की हो और इनसे रोटी-बेटी का व्यवहार न किया हो। बनाफर-वीरों को अमर करने वाला 'जगनिक' भी अपने पाठकों को बार-बार इस बात का स्मरण करा रहा है—

'ओछी जात बनाफर क्यार' पर, तलवार के धनी इन वीरो ने कुलीन क्षत्री कुमारिकाओं का अपहरण किया और अपनी बहुयें बनाया। आज भी 'बनपरी' (कबरई-दक्षिण एवं महोबा-पूर्व) के रूप में जाने जानी वाली बुन्देल-भूमि बनाफरों की स्मृति को जीवन्त बनाए हुए है।

३. आल्हा काव्य की हस्तलिखित प्रति अब तक उपलब्ध नहीं हुई है। बहुत संभव है, यह गाथा अन्य बहुत-सी लोकगाथाओं की तरह मौखिक ही

रही हो। मूलतः कुछ भी हो, अब यह हिन्दी क्षेत्र की अमूल्य निधि है जो कि अपनी वीरत्व-व्यंजक गाथाओं के कारण तथा उनकी आकर्षक गायन-शैली के कारण, बुन्देल-भूमि से दूर-दूर तक प्रसारित होती चली गई। अब इस गाथा के अध्ययन मनन का वैज्ञानिक आधार यही है कि लोक-प्रचलित भिन्न-भिन्न रूपों को क्षेत्रीय 'अल्हैतों' से सुनकर सम्पादित किया जाए और इन सुसम्पादित संस्करणों के आधार पर 'आल्हा काव्य' का पुनर्गठन किया जाए। इस तुलनात्मक प्रक्रिया तथा अन्य ज्ञानधाराओं की सामग्री से, वर्णित घटनाओं पात्रों एवं स्थान-नामों का निश्चय ही संशोधन हो सकेगा। प्रक्षिप्तांशों का परिहार किया जा सकेगा (निस्संदेह यह प्रयास पर्याप्त श्रम, समय एवं व्यय-साध्य होगा); पर तद्युगीन हस्तलेख (यदि कोई था) की भाषा का पुनर्गठन असंभव ही कहा जायेगा ? परिणाम कुछ भी हो, इस प्रकार के प्रयास किए जाने चाहिए। गाथा के एक अंश का ऐसा प्रयास श्री लोकनाथ द्विवेदी 'सिलाकारी जी' के द्वारा किया गया है जो कि हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो चुका है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'महाकवि जगनिक कृत लोक-गाथा काव्य आल्हा' के पृष्ठ संख्या १६७ पर 'आल्हा मनौआ' (आल्हा काव्य का एक अंश) के पाठ के सम्बन्ध में लिखा है--"चन्देरी, टीकमगढ़ और गढ़ाकोटा (सागर) के अल्हैतों (आल्हाकाव्य के गायकों) से मौखिक रूप में सुनकर—संकलित किया गया है।" प्रस्तुत लेख में भाषा-विश्लेषण के लिए अधिकाधिक उदाहरण इसी अंश से लिए गये हैं।

बहुचर्चित कथन है कि सर्वप्रथम सन् १८६५ (तदनुसार संवत १९२२) में सर चार्ल्स इलियट ने इस गाथा-काव्य को अल्हैतों से सुनकर लिपिबद्ध कराया। इस सम्बन्ध में संवत् १९५३ में सम्पादित 'आल्हा खण्ड की भूमिका' में लिखा गया है—

'श्रीयुत मिस्टर सी० ई० इलियट साहब बहादुर जो फर्रुखाबाद में बन्दोबस्त के कलेक्टर थे, प्राचीन गायकों से उन्होंने आल्हखण्ड लिखवाकर अंग्रेजी में तर्जुमा कर लन्दन को भेज दिया। अनन्तर मुंशी रामस्वरूप ने साहब बहादुर को अर्जी देकर पूर्व लिखित आल्हखण्ड को संवत् १९२९ में प्रथम बार छापकर प्रकाशित किया। तभी से आल्हखण्ड के छपने का प्रचार भया। इसी से कम्प फतेगढ़ दिलकुशा छापाखाना में छपे हुये आल्हखण्ड को सबसे प्रथम छापने के कारण असली कहते हैं, तिस पीछे कई आल्हखन्ड जहाँ-जहाँ छपे हैं परन्तु सबों में पूर्वापर विरोध है ··· बम्बई के पंडित हरिप्रसाद भगीरथ जी जो प्राचीन व नवीन पुस्तकों के प्रकाश में कटिबद्ध हैं, उन्हीं की आज्ञा से, बड़े परिश्रम से प्राचीन-प्राचीन गायकों व अनेक इतिहास-ग्रन्थों को देख पूर्वापरविरोध मिटाय हमने संपादन किया।' सम्पादक, पण्डित नारायण प्रसाद मुकुन्दराम जी, संस्कृत और भाषा पुस्तकालयाध्यक्ष, बांसबरेली और लखीमपुर (अवध) 'मटम्मल अनार की रंगत' को लेकर चावड़ी बाजार, देहली से भी कई 'आल्हखण्ड' प्रकाशित हो चुके हैं, जिसमें 'कौरवी-हरयानवी' बोली का पुट अवश्य है, पर तेइस लड़ाइयों एवं बावनगढ़ विजय का जो ढांचा चार्ल्स इलियट के सामने तैयार हो गया था, वही परिनिष्ठित स्वरूप पा गया, और यत्किंचित अन्तर रखता हुआ आज उत्तर भारत में प्रचलित है।

५. सम्पूर्ण 'आल्हा' एक ही लोक धुन में आबद्ध है जिसे छन्दशास्त्रियों ने 'वीर' छन्द के नाम से अभिहित किया है। यद्यपि युद्ध सम्बन्धी तैयारिओं, दर्पोक्तियों एवं तेगा और तलवारों की झनकारों से ही सभी आख्यान ओतप्रोत हैं, पर जहाँ कहीं नीति-कथन, नगर वर्णन एवं प्रेमालाप भी है, वहाँ भी जनकवि ने किसी अन्य छन्द को नहीं अपनाया। आज के गायक भी सुर में अन्तर रखते हुए इसी एक छन्द को ही माध्यम बनाए हुए हैं। इस छन्द में बंधे इस काव्य ने ही इसे वीर छन्द और कालान्तर में 'आल्हछन्द' की संज्ञा दी होगी। सोलह-पन्द्रह मात्राओं की गति-यति वाला यह लम्बा छन्द दीर्घ-ह्रस्व में अन्त पाता है। 'आल्हा' की उपरि-उद्धृत सभी संस्करणों में अधिकाधिक यह दीर्घ-ह्रस्व-आय या-आर मिल रहा है, कहीं-कहीं य।-र के स्थान पर अन्य तरल ध्वनियाँ भी हैं। शायद दूसरी उठान के लिये ये ध्वनियां सहायक होती होंगी। व्याकरणिक दृष्टि से यह-य पूर्व-कालिक प्रत्यय है जो कि कथन को पूर्णता का बोध तो कराता है, पर बात को समाप्त नहीं करता, इसलिए आख्यान को आगे बढ़ाने में सहायक होता है —

सुमरिन करके नारायन औ गनपत के चरण मनाय
लिखों ··· ························· ···············

'मनाकर लिख रहा हूँ' ।-य वाले प्रयोग हमारे आलोच्य अंश 'आल्हा-मनौआ' में ६० प्रतिशत है।

६. गाथा को मूर्तिमान करने वाली शब्दराशि के कुछ तथ्य सर्वप्रथम विचारणीय है—

(१) संस्कृत की तत्सम शब्दावली का नितान्त अभाव है। काव्य में न तो उच्चकोटि के चिन्तन-दर्शन के लिए स्थान है, न राम-कृष्ण के समान पौराणिक चरित्रों की ही अवतारणा हुई है और न उपमान-विधान ही जटिल है। सम्पूर्ण आख्यान घटना-प्रधान है और घटनाओं की अतिरंजनापूर्ण वर्णना

ही काव्य को आकर्षक बनाए हुये है। जनसाधारण में प्रचलित शब्दावली ही इस काव्य का मुख्य उपादान है।

(२) आश्चर्य तो यह है कि वीरत्व-व्यंजक प्राकृताभास शब्दावली जो कि १८ वीं सदी तक हिन्दी के वीरकाव्यों में छाई रही, यहाँ कहीं ढूंढ़ने में भी नहीं मिलती। उपलब्ध सभी संस्करण इसके प्रमाण है। लिखित काव्य यदि मूल में रहा होता तो लोक की धारणा-शक्ति ऐसी शब्दावली को यथासम्भव गाथा में संजोये रखती।

(३) विदेशी अरबी-फारसी शब्दावली का अभाव भी कम आश्चर्य में डालने वाला नहीं है; ऐसे शब्द आज के लोक साहित्य में या लोक-जीवन में (चाहे हिन्दी क्षेत्र को लें या सीमित बुन्देली क्षेत्र को) इस काव्य से कहीं अधिक सुलभ हैं। मैजिल (–यात्रा-पड़ाव) शब्द का प्रयोग स्थान-स्थान पर मिल रहा है। 'सात दिनों की मैजिल करकैं' या बारा दिनों की मैजिल कर कैं' कहीं-कहीं द्वित्व रूप मे मंजिल-मंजिल के चलिबे में नैनागढ़ में पहुंचे जाय'। 'तलाक' शब्द प्रयुक्त तो एक ही आख्यान में हुआ है, पर बड़े प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त है–

तीन तलाकें दई चन्देले भरभादों में दओ निकार।

'कसम धराकर' किसी वस्तु को छोड़ देने का भाव यहाँ तलाक से स्पष्ट हो रहा है।

(४) बुन्देली कही जाने वाली क्षेत्रीय शब्दावली भी लगभग नगण्य है। उत्तर भारत की व्यापक भाषा ही इस काव्य की आधार-भूमि है। यह बात व्याकरणिक रूपों को देखने से और भी स्पष्ट होती है।

(५) शब्दों की ध्वनि-संरचना (परिणामतः वर्ण-संयोजना) में एक बात और उल्लेखनीय है; अल्हैतों का आज का उच्चारण भी 'आल्हा मनउआ' है 'मनौआ' नहीं। इसी प्रकार चढ़इया, लड़इया, चिरइया, नइया, लगइयो, उच्चारण-अनुकूल लेखन है, चढ़ैया, लड़ैया, चिरैया, नैया, लगैयो, उपयुक्त नहीं। उपरि-उद्धृत अवध संस्करण में ऐसा ही लिखा गया है, (केवल मनौआ को छोड़कर), पर सागर-प्रकाशन में सन्धि युक्त-ऐ का लेखन है।

७. व्याकरणिक रूपों के सम्बन्ध में भी दो एक उखड़ी हुई टिप्पणियाँ विचारणीय हो सकती हैं—

(१) वर्तमान एवं भविष्यत् काल की अभिव्यक्तियों के लिए धातु रूपों में कृत प्रत्ययों–त एवं ग का योग आज बहुप्रचलित है, पर १६ वीं सदी के बाद ही इनका प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ा है। इसके पूर्व पुरानी हिन्दी में तिङन्तीय–ऐ

एवं–ह–प्रत्ययों का ही प्रचार-प्रसार था। उपलब्ध संस्करणों में तिङन्तीय रूपों का एकाधिपत्य गाथा की प्राचीनता का परिचायक तो है ही।

खटखट खटखट तेगा बाजै, बाजै छपक-छपक तलवार।
मुरचन मुरचन नचै बेंदुला, ऊदल कहै पुकार-पुकार।
× × ×
डांड़ पढैहौं जो तुरन्तै ना, तौ महुबे को लैय लुटाय।
× × ×
जियत महोबे हम जैहैं ना
× × ×
का पर मिलिहै आल्हा ऊदल
× × ×
जब सुधि ऐहै हमैं तुम्हारी, तब हम करिहै कौन उपाय।

(२) पुरानी हिन्दी के तथा ब्रज-बुन्देली के, संज्ञा, एक वचन के-ऐ।-ऐं विभक्त्यन्त प्रयोग भी ध्यान आकर्षित कर रहें हैं—

१—जियत महोबे हम जैहैं ना
२—जगनिक चले कनौजे जात
३—पिछली टापैं धर गज माथैं

(३) निर्विभक्तिक प्रयोगों की कमी और इन स्थानों पर परसर्गों की बहुलता तथा संयुक्तक्रियापद रचना की ओर झुकाव जोकि १८५३ संवत् के अवध संस्करण में भी दिखाई दे रहे हैं, इस काव्य को इस रूप में १७ वीं सदी से ऊपर नहीं ले जा सकते।

८. लोक में एक शब्द थोड़े से अन्तराल को (काल, स्थान, व्यक्ति, किसी का हो) पाकर अनेक रूप प्राप्त कर लेता है। ऊदल भी ऊदल (अवध संस्करण) बन गया है। मामुलिया में प्रकाशित शिबूदा के आल्हा में 'आल्हा' भी अल्ल अल्लन बनकर छा गया है। अल्लन का-न बद्रीनाथन के-न की तरह आदरसूचक है। चन्देलों की राजधानी भी महोबा, महोबो, मोहबो, महूबो, मुहबो कई रूपों में छपकर आई है। गायक अपनी सुविधानुसार शब्दों को उसके पर्यायों में भी बदलता चलता है; जैसे—

माहिल भूपत की चुगली में,
बाराबाट भए परमार।

'भूपत' के स्थान पर 'राजा' और 'मामा' शब्दों का प्रयोग भी मिल रहा है। कहीं-कहीं मूल भाव की व्यंजना के लिए विस्तृत उपादानों का सहारा भी लिया गया है। 'बाराबाट' शायद गायक क्षेत्र का न हो अथवा उसको प्रयोग

क्षमता के निकट का न हो; यह भी सम्भव है, अप्रस्तुतों की सन्निकट योजना में उसका मेल न बैठता हो, गायक इस भाव की व्यंजना भिन्न प्रकार से करता है—

माहिल भूपत की चुगलिन में,
राजा बिगर गए परमार

पूर्वापर क्रम में काई ने तालाबों को, 'पररत्री ने पुरुषों को' और इसी प्रकार, माहिल की चुगली ने राजा परिमाल को बिगाड़ दिया है। यहाँ दृष्टान्तों की समानान्तर योजना प्रस्तुत को प्रभावशाली बना रही है, जब कि बाराबाट अपनी लाक्षणिकता के बल पर जमा बैठा है। इसी प्रकार 'को असने में ऐहै काम' 'असने' की 'गाढ़े' अथवा 'आड़े' से स्थानापन्न किया गया है। 'असनो' 'विपत्ति के अवसर पर' अर्थ रखता है।

९. सागर-पाठ के कुछ बुन्देली प्रयोगों पर भी ध्यान दिया जा सकता है। उसरी (-बारी), गाजर उसरी तो ऊदल की, महुबे लड़ैं कनौजीराय। आगे सरकना, हट जाना, बढ़ जाना (-उत्+सृ), यह तो मूल अर्थ है, परन्तु हटने के स्थान पर स्थानापन्नता का भाव यहाँ स्थायी हो गया है। और भी, उसरिन खेलौ गंगा ठाकुर, जैसे कुवाँ भरै पनिहार।

भर-भादों, भरा हुआ भादों का महीना, अर्थात् जिस समय वर्षा की झड़ी लगी हुई हो। वर्षा ऋतु के दो माह—सावन, भादों—कहे गए हैं। जनकवि आगे कहता है—

सावन चिरइया न बन छाँड़ै
न बनजारो बनज को जाय।

घर के बाहर निकलने के लिए इन दिनों को 'दुर्दिन' कहा गया है। परिनिष्ठित हिन्दी में भी भरसक (भरी हुई शक्ति), भरपूर (भरा और पूरा) आदि बहुत से प्रयोग है, पर, भरभादों की लाक्षणिकता आकर्षक हैं।

सौ तक गिनती एकै बिनती, 'एक ही बात को घुमा-फिराकर अनेक प्रकार से कहना' अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाली यह लोकोक्ति बात की दृढ़ता की परिचायक है। एक ही वजन के शब्द-चयन (गिनती और बिनती) के समानान्तर प्रयोग ने उक्ति को ग्राह्य बना दिया है। सौ सुनार की एक लुहार की, हिन्दी क्षेत्र की बहुप्रचलित लोकोक्ति इसी वजन की है। सौ जनसाधारण की गिनती की उच्चतम सीमा है।

१० भाषायी तत्वों (ध्वनि, अक्षर, शब्द और इससे बड़े भी) की आवृत्तियाँ लोकसाहित्य को स्मरणीय बनाये रखते में अत्यधिक सहायक होती

हैं। अलंकारशास्त्रियों ने जिसे अनुप्रास की संज्ञा दी है और जिसमें वर्णानुक्रम का विधान किया है, वस्तुतः ये ध्वनियाँ (चाक्षुष रूप, वर्णों) की एक व्यवस्थित आवृत्तियाँ ही तो हैं। उच्चरित ध्वनि तब तक कानों को झंकृत किए रहे, जब तक लगभग उसी झंकृति को उत्पन्न करने वाली ध्वनि फिर से उच्चरित हो जाए,' वस्तुतः ध्वनियों की ऐसी ही संयोजना तो आनुप्रसिक विधान के अन्तर्गत आती है, ये आवृत्तियाँ कानों में मधुरता घोलती है, काव्य को प्रवहमान बनाती हैं। घटनाओं में चित्रात्मकता लाती है, और वर्णनों को जीवन्तता प्रदान करती है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है—

(१) अनुरणनात्मक आवृत्तियाँ—

खटखट खटखट तेगा बाजै, बाजै छपक छपक तलवार।
धरती धसकन औ रनजूझन, खन्दक तोड़न दई चलाय।
अररररररर सनसन गोला छूटें, कहँ कहँ करें अगिनियाँ बान।
सनसन सनसन गोली छूटें सरसर परी तीर की मार।

(२) समान वजन की अक्षर-आवृत्तियाँ—

कोड़ा चटको, घोड़ा दंदको
लिख परवानो कियो रवानो
कोउ नालकिन कोउ पालकिन
कै भर लीजै, कै भर दीजै
जगनिक कोपो औ रन रोपो

आवृत्तियों से कार्यों की भिन्नता, उनका पूर्वापर क्रम और गति-सत्वरता आवश्यकतानुसार अभिव्यक्त हो रही है।

(३ समानार्थक आवृत्तियाँ—

ठौर-ठिकानो, हाल-हकीकत, कोप-खजानो, केशल-क्षेम, भूलचूक, बनिज-ब्योपार, लाज—शरम, बुलाबो-चलाबो, आबो-जाबो, जग-सिसार

(ध्वनि एवं व्याकरण समाहार की द्योतक शब्दावली आलोच्य पाठ में उपलब्ध नहीं है, वैसे लोक में यह सम्पत्ति अटूट है)

(४) समध्वन्यात्मक पर भिन्नार्थक आवृत्ति (यमक)

कटकट मांस गिरै धरती पै, पै न धरो पछारूँ पांव

(५) शब्द की पुनरावृत्तियाँ—

बातन बातन बतबढ़ हो गयी और बातन में बढ़ गई रार।
× × ×
सगुन बिचारै बाम्हन कायथ जो धरि मौर बियाहन जांय।

सगुन बिचारैं बनिए बाढ़ नित उठ करैं बनिज ब्योरार ।

सगुन बिचारैं का छत्री हैं जो रन चढ़िकैं लोह चबांय ।

इस प्रकार की आवृत्तियों से कबिता के अर्थ मे कोई अन्तर नहीं आता । अन्तर आता है उसके प्रभाव में, जो कि पुरानी कविता के लिए और लोक-काव्य के लिए सुतरां आवश्यक है । कहीं-कहीं मन-मस्तिष्क को छूने वाली आवृत्तियां भी मिलेंगी—

जग रूठै, रूठै रामहु जो, चाहे रूठ जांय परमाल ।
उड़नबछेरा तैं न रूठियो, नदी बेतवै के मैदान । (सागर-संस्करण)

(लोक-परलोक बिगड़ने से क्या, उड़नबछेरा के साथ तो जन्मभूमि का सम्मान और परहित भावना जुड़ी हुई है)

११. समूचे आल्हा-काव्य में कहीं भी जटिल अलंकार–विधान नहीं है, परन्तु उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक जैसे सादृश्यगर्भित अलंकार की भी कमी नहीं है ।

१ –बहिनि बदरिया तुमकों सुमरों
कौंधा बीरन की बलि जांय ।
झमकि बदसियो मोरे महलन में
कंता आज रैनि रह जांय ।। (सागर-संस्करण)

(सावन की बदली को सम-दुख-भागनी बहिन के रूप में और विद्युत की चमक को दर्पीले भाई के रूप में रक्षार्थ पुकारा गया है । कौंध को कौंधा कह कर उसे पुरुषत्व प्रदान किया गया है)

२—अजगर लाग रहा दरबार

(भारी-भरकम योद्धाओं से सजे दरबार की तुलना भारी-भरकम मोटे सांप से की गई है)

३—जैसे भिड़हा भेंड़न पैठे, जैसे सिंह बिडारैं गाय ।
ऐसे ब्रह्मा दल में पैठे, छत्रिन काट करैं खरिहान (अवध संस्करण)

४—कीरतसागर की पारन पै, भारी बही रकत की धार ।
ढालैं डारी हैं लोहू में, मानों कछुआ सी उतरांय ।
डरी बन्दूकैं हैं लोहू में, मानों नाग रहे मन्नाय ।
पगिया डारी हैं लोहू में मानों कमलफूल उतरांय ।
परे दुसाला जो लोहू में मानों कच्छमच्छ उतरांय । (अवध संस्करण)

५—जैसे भिड़या पड़ैं रेवड़ में चीरै फाड़ै औ खा जाय ।
ये गत कर दी है लाखन ने दल पूला सा दिय बिछाय । (दिल्ली संस्करण)

६—मुर्दे ऐसे बहैं लोहू में जैसे नद्दी बीच सिमार ।
ऐसे पेंच पड़े पगड़िन में जैसे नाग लपेटा खाय ।
पड़ी बन्दूकें यूं लोहू में मानों मगर रहे लहराय (दिल्ली संस्करण)

७—गोला लग जाय जिस हाथी के मानों पर्वत सा ढै जाय ।
गोला लग जाय जिस घोड़ा के मानों कला कबूतर खाय ।

× × ×

मेह की माफिक गोली बरसी जैसे इन्दर झड़ी लगाय । (दिल्ली संस्करण)

१२. अभिव्यक्ति को वास्तविकता का जामा पहिनाने के लिए और घटना-क्रम को जीवन्तता प्रदान करने के लिए काव्य में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का खूब प्रयोग हुआ है । घोड़ों की नस्लों, हथियारों के नामों, वाद्य-यंत्रों की सूचियां, जिरह-बख्तर के प्रकारों तथा योद्धाओं के नाम-पता, इन सभी की चर्चा पुरानी कविता की तरह यहां भी हुई है । बुन्देली लोकसाहित्य की यह एक विशिष्टता है कि किसी प्रसिद्धि को उसके स्थान या व्यक्ति के नाम से जोड़ दिया जाता है, जैसे मौंधा को सोनो, महोबे की कजरियां, खजराहो को मेला, दतिया के सिपाई और कहानियों में—

बूझो तो गरसई के मोड़ा कौन जनावर आय ।

आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं । आलोच्य काव्य में—

चलै सिरोही मनासाही
औ बूंदी की असल कटार ।
तेगा चटकै बर्दमान को
गिर गिर परैं सुघरुवा ज्वान ।

× × ×

कागद लैकैं कल्पीवारो
अपनो कलमदान लै हाथ ।

आल्हा काव्य के भाषा-विश्लेषण पर कुछ लिखा गया है, पर सन्तोषजनक कुछ नहीं । वस्तुतः प्रकाशित संस्करणों की समानाभिव्यक्तियों को लेकर कुछ लिखा जाता अथवा सर्वेक्षण से सम्प्राप्त किसी एक आल्हा-रूप पर विचार किया जाता, तो अधिक कारगर होता ।

आल्हखण्ड का महाकाव्यत्व

—डा० चन्द्रशेखर शर्मा

महाकाव्य मानव जीवन का सर्वांगनिरूपक होता है। वह व्यक्ति के साथ-साथ तत्कालीन समाज, परिस्थितियों और लोक जीवन का व्यापक दृश्य प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार छोटी-छोटी स्रोतास्विनी धारायें मिलकर विशाल नदी का निर्माण करती हैं, उसी प्रकार छोटी-छोटी कथायें विस्तृत कथा के साथ एकाकार होकर उसके कलेवर को पुष्ठ एवं विस्तृत रूप प्रदान करती हैं। प्रसिद्ध जगनिककृत-लोक महाकाव्य आल्हखण्ड एक ऐसा ही विशाल और जन-प्रिय लोक-काव्य है, जिसमें तत्कालीन समय में प्रचिलित अनेक किंवदन्तियां, कहानियां और ऐतिहासिक घटनायें संश्लिष्ट हो गई हैं, जिसको पढ़कर मानव तृष्णा के धरातल से तृप्ति के स्वर्ग की ओर उठता हुआ प्रतीत होता है।

१—कथा-वस्तु ख्यात और पौराणिक होनी चाहिये, उसमें कवि अपने आदर्शानुसार समुचित परिवर्तन और संशोधन कर सकता है।

२—मुख्य-कथा के अतिरिक्त सहायक उपाख्यान भी होने चाहिए।

३—कथानक उदात्त गुणों से युक्त सद्गुणी एवं वीर होना चाहिए।

४—अनेक प्रकार के चरित्रों का निबन्धन होना चाहिए।

५—प्रकृति का मनोरम चित्रण होना चाहिए।

६—प्रति नायक का होना परमावश्यक है।

७—श्रृंगार, वीर, शान्त और करुण में से कोई एक अंगीरस होना चहिए। साथ ही अन्य सभी रसों को सहायक रूप में अवश्य आना चाहिए।

८—कथा श्रृंखला एकताबद्ध होनी चाहिये।

९—कथावृत भव्य, उदात्त, मानवीय गुणों से युक्त विविधभाव-संकुल, जीवन व्यापी, अद्भुत और लोकोत्तर होना चाहिए।

१०—भाषा प्रसन्न, मधुर, भावपूर्ण, अंलकृत और प्रसंगानुकूल होनी चाहिए।

आल्हखण्ड को सर्वानुमति से महाकाव्य तो माना जाता है, किन्तु वह किस प्रकार का महाकाव्य है, इस सम्बन्ध में मतभिन्नता देखने को

मिलती है। जयशंकर प्रसाद ने आल्ह-खण्ड को संकलनात्मक महाकाव्य माना है। उसे महाभारत की परम्परा में स्थान दिया है।[१]

दूसरी ओर जार्ज ग्रियर्सन ने आल्ह-खण्ड की एक गाथा (एक खण्ड) को ही महाकाव्य माना है![२] लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी उसे लोक गाथा काव्य मानते हैं।[३] डा० शम्भूनाथ सिंह ने आल्ह-खण्ड को विकसनशील लोक महाकाव्य की श्रेणी में रखा है।[४]अत: अधेन नीयमाना यथान्धाः की भाँति विना विचार-विमर्श के चुपचाप आँख मूद कर न चलते हुए हम आल्हखन्ड के महाकाव्यत्व की परख उक्त लक्षणों के आधार पर करेगें।

इतिहासोद्भव वृत :—

महाकाव्य का कथानक इतिहासोद्भव होना चाहिए। आल्हाखण्ड का कथानक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ही लिखा गया है। इसमें तीन राजवंशों के पारस्परिक संघर्षों की गाथा अंकित है, वे हैं—कन्नोज के गहरवार राठौर दिल्ली के चौहान और महोबे (कलिंजर) के चन्देल। आल्ह जो कि इस महाकाव्य के नायक हैं, चन्देल शासकों के ही प्रधान सेनापति थे। आल्हा काव्य में चौहान-चंदेल युद्ध का अनिष्टकारी भीषण परिणाम और संहार दिखाया गया है। इस संघर्ष की पुष्टि तत्कालीन शिलालेखों, ऐतिहासिक ग्रंथों और ऐतिहासिक खोजों से होती है।[५]

१—लेखक-जयशंकर प्रसाद, काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, तृतीय संस्करण सं० २००५, पृ० ११४

२—जार्ज ग्रियसेन—द सौंग आफ' आल्हा मेरिज, ए भोजपुरी एपिक इन्डियन एझटीक्वेरी भाग १४ पृष्ठ २०९

३—लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी-महाकवि जगनिक कृत लोक गाथा काव्य आल्हा, सागर बुन्देली शोध पीठ १९, ६९ पृ० १५-१९

४—डा० शम्भू नाथ सिंह—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप और विकास, तृतीय संस्करण, वाराणसी हिन्दी प्रचारकपुस्तकालय, १९६२ पृ०-१५३-१५५

५—[अ] आर्कोलिजीकल सर्वे रिर्पोट, भाग २१, पृष्ठ १७४

[ब] ईश्वरी प्रसाद—ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इडिया पृ० ७१-७२

[स] मदनपुर को बारहदरी के शिलालेख, सागर डिस्ट्रिक्ट गजैटियर पृ० १६-१७

आल्ह-खण्ड में वर्णित प्रमुख पात्र प्रायः ऐतिहासिक ही हैं। यथा—पृथ्वीराज चौहान, परमर्दि देव (परमाल), जयचन्द, आल्हा-ऊदल इत्यादि। इसी प्रकार प्रमुख स्थानों के नाम भी ऐतिहासिक हैं जैसे, कन्नौज, दिल्ली, महोबा, उरई, माड़ों, कीरत सागर, मदन सागर आदि।

अतः आल्ह-खण्ड का कथानक पूर्णतः ऐतिहासिक वृत है, जिसमें लेखक ने मौलिक परिकल्पनाएं की हैं तथा अनेक नये पात्रों और घटनाओं का सृजन किया है, किन्तु उससे ऐतिहासिक घटनाओं में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ता। यद्यपि अनेक घटनाओं की ऐतिहासिकता में सन्देह किया जा सकता है, फिर भी यह निर्विवाद सत्य है कि आल्हा-काव्य में वर्णित चौहान-चन्देल-युद्ध निश्चित रूप से ऐतिहासिक घटना का आधार लेकर आल्ह-काव्य को विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ घोषित करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि समय के प्रवाह में इतिहास के साथ विभिन्न कल्पनाएँ भी काव्य में समाहित हो गई हैं।

कवि के लिये यह आवश्यक नहीं होता कि वह ऐतिहासिक घटनाओं का यथातथ्य चित्रण करे। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है—"लेखक चाहे इतिहास को अखन्ड रख कर रचना करे, चाहे तोड़-फोड़ कर, यदि वे ऐतिहासिक रस की अवतारणा कर लेते हैं तो उन्हें अपने उद्देश्य में कृतकार्य समझना चाहिए।"

इस दृष्टि से आल्हखण्ड के कथातत्व में इतिहास और कल्पना का मणिकांचन संयोग है और उसे ऐतिहासिक कृति न मानकर ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि पर लिखा महाकाव्य ही मानना चाहिए।

सहायक कथाएं :—

आल्ह-खण्ड की प्रधान कथा का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह कोई एक कथा नहीं है, वरन् प्रख्यात वीर आल्हा, ऊदल और मलिखान एवं उनके अन्य सहायक सरदारों के द्वारा किये गये वीरतापूर्ण कार्य, विवाहों के लिये लड़े गये युद्ध आदि समग्र रूप में आल्ह-खण्ड की कथा कहे जा सकते हैं। मूल कथा का प्रमुख उद्देश्य बनाफर वीरों की शूरवीरता का परिचय कराना है और उसके लिए कवि ने विभिन्न कथाओं की सृष्टि करके उन्हें मूल कथा की धारा मे जोड़ दिया है। अतः जितनी भी कथाओं की योजना है, उन्हें हम सहायक कथाएँ ही मान सकते हैं। महाकाव्य में मूल कथा के साथ अनेक कथायें सम्बन्ध रहती हैं। आल्ह-खण्ड के कथानक में भी सहायक कथाओं की विस्तृत याजना दृष्टिगोचर होती है। युद्धों के बीच में विभिन्न प्रासंगिक कथाएं जो कौतूहल शमन के लिए एक पात्र के मुख से कहलवाकर कवि ने दूसरे पात्र की जिज्ञासा को शान्त करने का प्रयास किया है, वे सभी कथायें [वृतांत] भी सहायक कथायें ही हैं।

राज्य-रक्षार्थ जगनिक का कन्नौजपति जयचन्द्र के पास सहायतार्थ जाना 'आल्हा मनौआ' 'गाजर की लड़ाई' आदि की कथा-योजना प्रासंगिक कथाएं हैं। ये कथाएँ महाकाव्य आल्हखण्ड की मूल कथा का सहायक वृतान्त ही हैं। आल्हखण्ड की विभिन्न कथाएँ मूल कथा मे मिलकर एकाकार हो गई हैं। जिस प्रकार विशाल नदी की सहायक नदियां उसमें मिलकर उसी का रूप ग्रहण कर लेती हैं और उनका अपना अस्तित्व मिट जाता है, उसी प्रकार बनाफर वीरों के शौर्य के महासमुद्र मे प्रासंगिक कथा रूपी नदियां अभिन्न रूप से विलीन हो गई हैं और दर्शक (पाठक) उस शौर्य रूपी महासमुद्र का हो दर्शन करता है, उन नदियों पर विशेष दृष्टि नहीं डालता। इस सहायक कथाओं से मूल कथा के कलेवर का विस्तार हुआ है और सरसता एवं रोचकता भी पर्याप्त मात्रा में समाविष्ट हो गई है।

उदात्त नायक :—

महाकाव्य का नायक किसी श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होना चाहिए। आल्हा-खण्ड का नायक आल्हा प्रसिद्ध क्षत्रियवंश के सेनापति दस्सराज का पुत्र है। वह धीरोदात्त उदार नायक है। आल्ह-खण्ड में कई स्थानों पर उन्हें धर्मराज युधिष्ठिर का अवतार कहा गया है—

'मंडलीक नृप भूप युधिष्ठिर जिनको शेष प्रगट संसार।
प्रगट भये सोई आल्हा ह्वै, जिनकी रही अमर तलवार॥[६]

अथवा

'धर्मराज प्रगटे आल्हा ह्वै, जिनकी खड़ी रही तलवार।'[७]

आल्हा अजेय नायक है, जिनको कभी भी पराजय का मुंह नहीं देखना पड़ा। इसलिए कवि लिखता है—

"फतह बखानूं नुनि आल्हा की, नौसै झन्झा चलत अगार।[८]
सिंह रूप ह्वै जग में जन्मे, गढ़, ठोकर सों दिये ढहाय।
बावन गढ़ में शाखो कीन्हों, भई सहाय शारदा माय।
ऐसे वीर सदा नहीं उपजे, तेहि ते शाखो देह सुनाय॥[९]

६. आल्ह-खण्ड—नारायण प्रसाद, स्टीम वैंकटेश्वर प्रेस बम्बई, १९५०, प्रस्तावना पृ० ११
७. आल्ह-खण्ड—वही, पृ० ६
८. आल्ह-खण्ड—परिमाल का व्याह, पृ० १५
९. आल्ह-खन्ड—प्रस्तावना, पृ०-१४

आल्हा को कहीं अतिमानवीय के रूप में भी चित्रित किया गया है। लेखक ने उन्हें अमर व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है—

> लगत तीर के भुजदण्डनि तें, निकसी तुरत दूध की धार
> देखि हाल यह पृथ्वीराज तब, अपनी हाथी दियो हटाय ।। [१०]

आल्ह-खण्ड के अन्त में कवि ने उन्हें गुरु गोरखनाथ के साथ कजरीवन जाते हुये चित्रित किया है। इस प्रकार आल्हा में नायकत्व के समस्त गुण विद्यमान हैं। वे क्षत्रियवंशीय वीर, अजेय और उदात्त मानवीय गुणों से परिपूर्ण है। यद्यपि उच्च कुल के नहीं हैं। आल्ह-खण्ड में भी बनाफर सरदारों के विवाह के प्रसंग आये हैं, वहाँ कन्या पक्ष के राजाओं ने 'ओछी जाति बनाफर राय' कहकर ही सम्बोधित किया है, लेकिन अपनी वीरता के बल पर वे उच्च कुल के राजाओं के भी पूज्य बन जाते हैं और शक्ति से उनकी कन्याओं का वरण करते है।(आल्ह-खन्ड के उपनायकों में ऊदल, मलखान, लाखन आदि प्रमुख है।) वे भी नायक के समान धीरोदात्त गुणों से परिपूर्ण है और इसकी इच्छापूर्ति में वे सहायक सिद्ध होते हैं।

प्रतिनायक:—

महाकाव्यों में प्रतिनायक का होना प्रायः अवश्यक माना गया हैं। प्रस्तुत महाकाव्य का प्रतिनायक दिल्लीपति सम्राट पृथ्वीराज चौहान हैं। यद्यपि पृथ्वीराज भी नायक की ही भाँति वीर, लम्बी भुजा वाला, प्रशस्त वक्षस्थल वाला कहा गया है—

> "महावीर हैं दिल्ली वाले, रण में एक शूर बलवान।
> गज भरि छाती पृथ्वीराज की, शंका करै काल की नाहि[११]

आल्ह-खण्ड में अनेक स्थानों पर पृथ्वीराज को खलनायक के रूप में चित्रिण किया गया है। संयोगिता का अपहरण चन्द्रावलि का डोला छीनना, मलिखान का धोखे से वध, ब्रहमा का वध आदि कुछ ऐसे प्रसंग हैं, जो उसे खलनायक की कोटि में स्थापित कर देते हैं। एक छप्पय में स्वयं उनका परामर्शदाता चन्दबरदायी भी पृथ्वीराज की अभिमानी रावण से तुलना करता है—

> इसो राज पृथ्वीराज, जिसो अभिमानी रावण।
> इसो राज पृथ्वीराज, राम रावण सन्तापन ।।[१२]

---

१०. आल्ह-खण्ड—वेला के सती होने की लड़ाई, पृ० ८२०-२१
११. आल्ह-खण्ड—संयोगिन स्वयंवर, पृ० ५१
१२. आल्ह-खण्ड—भूमिका, पृ० २६

प्रतिनायक पृथ्वीराज के सहायक पात्रों में ताहर, चौड़ा, चन्द आदि उल्लेखनीय है। खलनायक की दृष्टि से माहिल को चुगलखोर, बने काम को बिगाड़ने वाले व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। आल्हा खण्ड में वर्णित उसके कार्यों से खलता पूर्णतः झलकती है। धोखा, छलकपट, पाखण्ड और दूसरों का अहित करने का भाव माहिल में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, अतः उसे खलनायक कहना ही उपयुक्त होगा।

वीर रस की प्रधानता :—

महाकाव्य में श्रृंगार, वीर, करुण और शान्त रस में किसी एक रक रस की प्रधानता होती है। आल्ह-खण्ड वीर छन्द में लिखा वीर रस-प्रधान काव्य है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो आल्ह-खण्ड पढ़ कर उमंग में न भर जाता हो। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—आल्ह-खन्ड में वीर भावना का जितना प्रौढ़ रूप मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। आज भी जब इसे गायक संगीत के साथ गाते हैं, तब दुर्बलताओं से पूर्ण व्यक्ति में भी तलवार चलाने की स्फूर्ति आ जाती हैं।" [१३]

आल्ह-खन्ड का शब्द पौरुष और शौर्य को समर्पित है। आल्हा के शब्दों को सुनकर आज भी भुजाएँ फड़कने लगती हैं, मन में बिजलियां कड़कती हैं। वास्तव में, आल्हा हमारे इतिहास की हुंकार है। आल्ह-खन्ड में वीर गाथा कालीन शौर्य की आरती उतारी गई है। खड्ग की भाषा में बात करने वाले उद्धतवीरों—आल्ह-ऊदल, मलिखान और लाखन की यशोगाथाएं आल्ह-खन्ड के शब्दों में निरूपति हैं। पुरवा चली, अषाड गरजा, शरीर कसमसाये और चौपालों पर आल्हा के स्वर गूंज उठते हैं—

> "सदा तुरैया ना बन फूले, यारो सदा न जीवन होय।
> सदा न माता उर में धारे, यारो जन्म न बारम्बार।
> पानी दे दे रजपूतानि कों, ऊदनि आगे दियो बढ़ाय।
> झुके सिपाही महुबे वाले, अपनी खेंचि-खेंचि तलवार ।।[१४]

वीर रस के साथ श्रृंगार रस सहायक रूप में वर्णित है। आल्ह-खन्ड की अधिकांश लड़ाइयों के प्रधान कारण विवाह ही रहे हैं।"

"जेंहि की बिटिया अच्छी देखें, जोरा जोरी करें बियाह[१५]

१३—डा० नगेन्द [सं०] : हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९७३, पृ० ५६
१४—आल्हखन्ड—माड़ों की लड़ाई, पृ० १४४।
१५—पथरीगढ़ की लड़ाई, पृ० २८५।

ऊदल जैसा वीर भी प्रेम और सौन्दर्य के चक्कर में पड़कर स्त्री का वेश धारण कर लेता है और—

"फुलवा रानी के दिखिबे कौं, उदलि डारी नाक छिदाय ।[16]

प्रेम और लालसा की अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में देखिये—

"कारी बदरी तुमको सुमिरो, कौधा वीरन की बलिजाऊँ
भिमिकि कैब सो तुम अंटा पर, कन्ता आजु रैनि रहि जायँ ।[17]

शृंगार और वीर के अतिरिक्त करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स रसों का वर्णन भी आल्ह-खन्ड में अनेकानेक स्थानों पर हुआ है। प्रायः प्रत्येक लड़ाई में युद्ध के समय ये रस एकाकार हो गये हैं। इस प्रकार रसों की दृष्टि से भी आल्ह-खन्ड महाकाव्य की कसौटी पर खरा उतरता है।

शृंखलाबद्ध और स्पष्ट कथानक :—

महाकाव्य का कथानक सुस्पष्ट और शृंखलाबद्ध होता है। आल्ह-खन्ड का कथानक भी इस दृष्टि से सुन्दर है। इसमें कुल मिलाकर ३१ खन्ड हैं। प्रारम्भ में मंगलाचरण है, तुलसी की तरह ही लेखक ने ऋषियों, देवों एवं विप्रों की वन्दना की है। जैसे—

"पुनि मैं सुमिरों उन बिप्रनि को, जे श्रुति नीतिशास्त्र अवतार।
परम पियारे नारायण के, धारे विष्णु भक्ति उर हार ।।[18]

तत्पश्चात् आल्हा के पूर्वजों के वृतान्तों से लेकर वन-गमन तक की समस्त घटनाओं का क्रम से वर्णन किया गया है। पूर्व खन्ड में आगे के खन्ड की सूचना दे दी गई है। जैसे—

आल्हा उदलि मलिखे सुलिखे, माड़ी लिए बाम के दाऊँ।
तौन लड़ाई आगे कहिहौं, यारो सुनियो कान लगाय ।[19]

कथानक में कहीं भी किसी प्रकार का व्यवधान नहीं है। आल्ह-खन्ड में चरित्रांकन के स्थान पर कथातत्व को प्रधानता दी गई है, जिसमें अति कल्पना का योग है। विस्तृत वर्णन के कारण कहीं-कहीं कथा में साम्य और पुनरावृति भी है। जैसे—रूपनबारी द्वारा विभिन्न विवाहों में एवनवारी लेकर जाना और नेग के रूप में एक घडी लड़ाई मांगना, मक्खी या कैद से छुटकारे के लिए स्त्री की सहायता न लेना, भाँवरों के समय की लड़ाई आदि। कथा

१६—आल्ह-खण्ड—नखरगढ़ की लड़ाई, पृ० ३७२।
१७—आल्ह-खन्ड आल्हा मनौआ, पृ० ६७०
१८— " परिमाल का ब्याह, पृ० १३
१९—महोबे की लड़ाई, पृ० ८३

विस्तार और सुसम्बद्धता की दृष्टि से आल्ह-खन्ड एक सफल महाकाव्य की कोटि की रचना है।

उदात्त वृत :—

आल्ह-खन्ड का कथानक भव्य उदात्त और लोकोत्तर है। इसमें सामन्ती जीवन, राजपूति शौर्य, बलिदान, योगियों, यक्षणियों के चमत्कार, रण बाँकुरे वीरों की हुंकार तथा तन्त्र-मंत्र अभिचार आदि को लेकर चलने वाली लोक संस्कृति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। आल्ह-खन्ड के वीर हमारी राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक बन गये हैं। राज्य-रक्षार्थ एवं निर्बल की सहायतार्थ प्राण उत्सर्ग करने की भावना और स्वामी का नमक हलाल करने का प्रण आल्ह खन्ड के वीरों का मुख्य लक्ष्य है। उस लक्ष्य को पूरा करने के लिये वे सदैव तत्पर परिलक्षित होते हैं। उनके इन गुणों से पाठक अभिभूत हुए बिना नहीं रह पाता। डा० भगीरथ मिश्रों के शब्दों में—

"मन्द गम्भीर एवं द्रुत लयों में आल्हा-काव्य की घटनाओं और प्रसंगों का वर्णन जिसने आल्हा गायक के मुखों से सुना है, वह निश्चित रूप से रोम-हर्षित और गलिदश्रु हुआ होगा।'[20]

यह काव्य उनके विचार से लोकभावनाओं और संवेदनाओं को झकझोरना उदीप्त करता चलता है। आल्ह में कहीं-कहीं अलौकिकता आ गई है। जादुओं का प्रयोग, भैरव वाला जादू, नरसिंह का जादू, वीर महमदा की जादू की पुड़िया आदि का उल्लेख ऐसा ही है। आल्हा के शरीर से दूध की धार निकलना, गज मोतिन की मृत्यु उपरान्त आभा का बोलना स्वर्गीय दस्सराज की छाया का बोलना आदि अलौकिक मानवेतर-कार्य है, इससे आल्ह-खन्ड का कथानक भव्य और लोकोत्तर हो गया है।

प्रकृति का मनोहारी चित्रण:—

महाकाव्य में प्रकृति का व्यापक चित्रण होता है, लेकिन आल्ह-खन्ड में प्रकृति के मनोरम चित्रों का व्यापक चित्रण कम हुआ है। प्रकृति का आलम्बन चित्रण प्रायः न के बराबर है। प्रकृति उद्दीपन रूप में प्रस्तुत की गई है। प्रकृति का वर्णन वियोग शृंगार में हुआ है। कहीं-कहीं उपदेशात्मक रूप में भी प्रकृति का चित्रण देखने को मिलता है—

"नदी बेतवा तुमको ब्यावों, निर्मल बहे दूध की धार।
लहर-लहर के तेज ओज पै, बारे कोटि तीर तलवार।

२०. लोकनाथ सिलाकारी, प्रस्तावना, उद्धृत डा० भगीरथ मिश्र महाकवि जगनिक और उनका लोक गाथा काव्य आल्हा, पृ० ६

जहाँ समीरन की बीना पै, साजि चन्द किरनन के तार।
बन की देवी सुर मेघन ते, बरसाती है राग मल्हार ॥ [२१]

वियोग के समय विरहिणी को प्रकृति कैसी लगती है, उसका वर्णन दृष्टव्य है—

"बरसा बीति शदर ऋतु आयो, जाने कौन काज रहे छाय।
रैनि बड़ी है शरद निशा की तापर पवन रही सन्नाय।
मोहि डर लागत मोर शोर सुनि, काले मेघ काल सम होय।
सुखद रैनि तिनको जाड़े में, जो निज कंथ रही हिय लाय। [२२]

विरह के उद्दीपन के लिये अन्य स्थलों पर आल्ह-खण्ड के कवि ने भी प्रकृति का सहारा लेकर उसे मनोहारी रूप में प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं प्रकृति का वर्णन अलंकारिक रूप में भी हुआ है—

"बादल गरजै ज्यों भादों पै बिजली कड़कि कड़कि रहि जाय।
ऐसे गरजै बनरस वाले, बनता वरन करी न जाय ॥ [२३]

फिर भी यह कहने में संकोच नहीं है कि आल्ह-खण्ड में प्रकृति चित्रण महाकाव्य की गरिमा के अनुकूल नहीं है। युद्ध और नारी पर प्रमुख रूप से दृष्टि रहने के कारण काव्यकार का ध्यान प्रकृति की ओर कम ही आकर्षित हुआ है। आल्ह-खण्ड मूलतः वीर और शृंगार रस का लोक महाकाव्य है। कवि की दृष्टि प्रधानतः युद्ध और उसकी सामग्री तथा नारी एवं विवाह आदि प्रसगों पर रही है, इसलिए कवि प्रकृति के व्यापक चित्र प्रस्तुत करने में असमर्थ सा रहा है।

महाकाव्य के लिये कुछ अन्य आवश्यक बातें रचना क्रम होती हैं। जैसे प्रारम्भ में मंगलाचरण वन्दना, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में से एक की प्राप्ति, प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी कथा-सूत्र की सूचना, कृति का नामकरण, घटना अथवा नायक के नाम पर होना, सर्गों का नामकरण उसमें वर्णित घटनाओं के आधार पर होना आदि इन सभी की पूर्ति आल्हा काव्य में सफलता के साथ हुई है।

प्रारम्भ में कवि ने ईश्वर, देवी, गुरु, विप्र, गणेश, ब्रहमा, विष्णु, महेश की वन्दना की है। इसके अतिरिक्त ज्ञानियों में सनकसनन्दन, वीरों में भीष्म

२१—आल्ह-खन्ड—नदिया बितवै की लड़ाई, पृ० ६८१-८२
२२—आल्ह-खण्ड—अमरगढ़ की लड़ाई, पृ० ७१३
२३—आल्ह-खण्ड—महोबे की लड़ाई, पृ० ७३

पितामाह, प्रेमियों में कृष्ण, ऋषियों में कपिल देव, कीशों में हनुमान, धामों में जगन्नाथ, पुरियों में काशी, दानियों में हरिश्चन्द्र, भक्तों में प्रहलाद आदि के साथ-साथ सूर्य सरस्वती, वेदव्यास, नारद, गंगा आदि की स्तुति की गई है। चतुर्थ वर्ग में से काम और आंशिक रूप से धर्म, अर्थ एवं मोक्ष प्राप्ति आल्ह-खन्ड का उद्देश्य है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग की सूचना और उसमें वर्णित घटनाओं का उल्लेख हुआ है। कृति का नामकरण नायक आल्हा के नाम पर हुआ है। सर्गों का नामकरण सर्ग में वर्णित घटनाओं के आधार पर ही किया गया है। जैसे—परिमल का व्याह, संयोगिता-स्वयंवर मलिखान का ब्याह या पथरीगढ़ की लड़ाई आदि-आदि। महाकाव्य में कहीं-कहीं छंद भी बदलते रहते हैं। आल्ह-खन्ड में भी कहीं-कहीं दोहा, सवैया, कुन्डलियां, चौपद, गजल आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। आल्हखन्ड एक विकसनशील लोक काव्य है। आल्ह-खन्ड महाकाव्य की सफलता एवं उसके महत्व को स्पष्ट करते हुए सर जार्ज ग्रियर्सन लिखते हैं—"वर्तमान समय में अन्य कोई महाकाव्य नहीं है जो आल्ह-खन्ड के समान लोक मे व्याप्त हो। यह महाकाव्य समस्त उत्तर भारत के पेशेवर अल्हैतों द्वारा गाया जाता है।[२४]

लोकगाथा काव्य के निकष परः—

कुछ आचार्यों ने आल्हखन्ड को लोकगाथा काव्य की संज्ञा दी है। डा० लोकनाथ सिलाकारी ने इसे लोकगाथा काव्य ही कहा है। वस्तुतः आल्हखन्ड जहाँ महाकाव्य की कसौटी पर खरा उतरता है, वहीं लोकगाथा काव्य के निकष पर भी खरा बैठता है।

लोकगाथा में प्रायः किसी ऐतिहासिक घटना या चरित्र का वर्णनात्मक गेय रूप रहता है जिसमें कथा तत्व की प्रधानता रहती है। जातीय मान, प्रतिज्ञा-पालन, शरणागत वत्सलता, साधु, सती और स्त्रियों की रक्षा, जन-सेवा आदि के लिए आत्मबलिदान करना ही लोकगाथाओं का वर्ण्य होते हैं। इसमे जातीय विशेष गुण-धर्म का भी प्रदर्शन होता है। लोकगाथा में कर्म-वीरता और युद्धवीरता के वर्णन होते हैं। सामान्यत. लोकगाथा काव्य की विशेषताएँ होती हैं–(१) कथा मूलक वर्णनात्मकता, (२) सन्दिग्ध ऐतिहासिकता, (३) लम्बा कथानक, (४) संगीतात्मकता, (५) उपदेशात्मकता का अभाव, (६) नैसर्गिक अनलंकृत शैली। (७) मौलिक परम्परा।

२४—सर जार्ज ग्रियर्सन—लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, भाग ६, खन्ड, पृ० ४६५

(८) स्थानीय आचार-विचारों का विवेचन, (९) परम्परागत होते हुये भी मूल पाठ की अप्राप्ति।

सर्व प्रथम आल्ह-खन्ड की कथा वर्णनात्मक है। घटनाओं का विवेचन अधिक हुआ है। मनोवैज्ञानिक तथ्यों, भावनाओं और आंतरिक द्वन्द्वों का चित्रण अपेक्षाकृत कम। चरित्रांकन पर विशेष ध्यान दिया गया है। जहां तक संदिग्ध ऐतिहासिकता का प्रश्न है, वह यह है कि आल्ह-खन्ड ऐतिहासिक कृतियों में से एक होते हुये भी विशुद्ध इतिहास-ग्रंथ नहीं है। वास्तव में वह एक ऐसा काव्य है जिसमें कवि कल्पना का सहारा अधिक लिया गया है। आल्हखंड का कथानक बहुत विस्तृत है और लगभग ८२२ पृष्ठों में फैला हुआ है, जिसमें ३१ सर्ग हैं। जहां तक गेयत्व की संगीतात्मकता का प्रश्न है, यह एक ऐसा काव्य है जो मात्र संगीत और कन्ठ एवं लोकस्मृति के रथ पर आरूढ़ होकर आधुनिक काल तक जा पहुंचा है। पीढ़ी दर पीढ़ी चौपालों पर लोकस्वर में हुंकार भरता रहा है।

संगीतात्मकता आल्हखन्ड की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। आल्ह-खन्ड में उपदेशात्मकता भी अधिक है। मनुष्य को चेतावनी देता हुआ कवि कहता है कि—

> "मानव देही यह दुर्लभ है, यारो जनम न बारम्बार।
> जैसे पात टूटि तरुवर से, गिरि के बहुरि न लागे डार।'[२५]

नैसर्गिक अनलंकृत शैली लोकगाथा काव्य का प्राण होती है। कवि कबीर की तरह "बन पड़ा तो धीरे-धीरे, नहीं तो दरेरा देकर अपने भावों को व्यक्त करता है। ऐसे गायकों के समक्ष भाषा लाचार सी नजर आती है।" कबीर की भाषा के लिए कहा गया पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपरोक्त कथन लोकभाषा काव्य पर भी चरितार्थ होता है। आल्हखन्ड की भाषा भी कुछ ऐसी ही पचमेल खिचड़ी हो गयी है, जो विभिन्न कालों और स्थानों के अनुसार अल्हैतों के द्वारा अपने-अपने ढंग से प्रयुक्त की गई है। वस्तुतः वह समाजवाद की ऐसी टोपी की तरह हो गयी है जिसने जिस ढंग से चाहा है, तोड़ा-मरोड़ा है। बुन्देलखन्ड में उसमें बुन्देली के शब्द मिल गये हैं तो कन्नौज में उसमें कन्नौजी के शब्दों का बाहुल्य है, भाषा को अलंकारों से लादा नहीं गया है; हां जहां स्वभावत: अलंकार आये हैं, उन्हीं ने भाषा का श्रृंगार किया है।

आल्हखन्ड परिमर्दि देव के समय से लेकर १९७१ ई० तक मौलिक परम्परा के रूप में ही गाया जाता है। उसका लिपिबद्ध रूप आज तक प्राप्त नहीं हुआ। चार्ल्स इलियट लोककंठों में जीवित इस काव्य को लिपिबद्ध कराने में सफल रहे हैं। इसलिए परम्परागत होने पर भी मूल पाठ अप्राप्य ही है।

लोककाव्य या लोक गाथाओं का कवि अनजान होता है, लेकिन आल्हा के कवि का नाम हमें ज्ञात है। यह इसलिये हो सका, क्योंकि कवि मात्र कवि ही नहीं, अपितु महाकाव्य का एक प्रमुख पात्र भी है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार चन्दबरदायी "पृथ्वीराज रासो" का पात्र है। लोककाव्य में स्थानीय समस्याओं, विचारों, परम्पराओं का वर्णन होता है। आल्ह खन्ड में तत्कालीन सामाज के खान-पान, रीति-रिवाज, रहन-सहन, स्थान आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है। इस प्रकार आल्हखन्ड लोक-काव्यों के तत्वों पर भी खरा उतरता है।

उक्त विवेचन से जहाँ एक ओर साहित्यिक दृष्टि से आल्हखण्ड महाकाव्य सिद्ध होता है, वहीं दूसरी ओर लोककाव्य की कसौटी पर भी खरा उतरता है। अतः इसे लोक महाकाव्य अभिधान दिया जाय तो गलत न होगा। वस्तुतः यह एक ऐसा प्रबन्ध काव्य है जिसकी जड़ें एक ओर जन-मानस के हृदय में गहरी पैठ गई हैं, तो दूसरी ओर साहित्यकार के लिए भी वह आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बन गयी है। यही कारण है कि उत्तर भारत में "रामचरित मानस" के बाद आल्ह-खण्ड सर्वाधिक लोकप्रिय लोकमहाकाव्य विख्यात है। वह हमारी चौपालों का श्रृंगार है और हमारे इतिहास की हुँकार है। यह गीत काव्य मौखिक परम्परा से अग्रसरित होकर आज आल्ह-खण्ड के रूप में प्राप्त है, जिस प्रकार मौखिक परम्परा की लोकगाथाएं और लोकगीत सदैव परिवर्तित और परिवर्द्धित होते रहे हैं, यह तथ्य आल्हखन्ड के साथ भी सत्य है।

---

२५. आल्ह-खण्ड—माडो की लड़ाई, पृ० १३७

बुन्देली का लोक गाथा काव्य आल्हा

डा० बलभद्र तिवारी

बुन्देली समाज और संस्कृति को सशक्त अभिव्यक्ति देने वाली अमूल्य रचनाओं में जनकाव्य 'आल्हा' का विशेष महत्व है। बारहवीं शताब्दी के बुन्देलखन्ड की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराओं का परिचय जिस समग्रता के साथ 'आल्हा' में मिलता है, वह तत्कालीन अन्य कृतियों में दुर्लभ है, पर प्रश्न यह है कि आल्हा की प्रामाणिकता का आधार क्या है? इसी के साथ कुछ जिज्ञासाएँ भी हैं, जैसे—आल्हा का मूल रूप कैसा रहा होगा? आल्हा का ऐतिहासिक महत्व क्या है? आल्हा की जनप्रियता क्या है? अलिखित होने पर भी उसे मानस के बाद स्थान क्यों दिया जाता है? आल्हा का रचयिता कौन है, वे एक हैं अथवा अनेक? यदि आल्हा का संप्रेष्य इतना महत्वपूर्ण है कि जनसमाज उसे आज भी पढ़ना आवश्यक मानती है, तो महाकाव्यों की परम्परा में किस मानसिकता से सम्बद्ध है? आदि-आदि। इन सभी प्रश्नों और जिज्ञासाओं का समाधान आल्हा को एकबारगी नये ढंग से मूल्यांकित करने में सम्भव होगा।

आल्हा की प्रामाणिकता का ठोस आधार बहिर्साक्ष्य और अन्त:-साक्ष्य के आधार पर निकाला जा सकता है। आल्हा के मूल चरित्रों में परमाल (जिनका ऐतिहासिक नाम परमर्दिदेव है) जगनिक, आल्हा और ऊदल हैं। इन्हीं की कथा के साथ कुछ अवान्तर कथायें जुड़ी हैं जैसे—रूपना बारी, छेदी बारी, कल्लूवारी की कथायें, तालन सैय्यद की कथा, ब्रह्माबेला की कथा, पृथ्वीराज के वंश की कथा, जयचन्द और पृथ्वीराज के वैमनस्य की कथा, करिया की कथा, दस्सराज बस्सराज की कथा, पन्चशावद हाथी, बेंदल, हरनागर आदि घोड़ों की कथा, मछला, विजया की कथा, अमरढोल, पारसपथरी, झिलझिलागुरु की कथा, लोहा दुर्ग, नौलखाहार, लाखा बगीचा आदि की कथा। इन सभी कथाओं में आल्हा-ऊदल का शौर्य प्रमुख है। इस कथा का आधार लोकगाथा हैं, जिसमें दो वीरों की चर्चा है। ये दो वीर उस युग की अपेक्षानुसार आल्हा-ऊदल, गोरा-बादल आदि कुछ भी हो सकते हैं। आल्हा को आश्रय देने वाले परमाल हैं। परमालरासो और पृथ्वीराज रासों का 'महोबा खण्ड' दोनों सामान धरातल पर हैं। विद्वानों ने अवश्य ऐसा

माना है, पर वस्तुस्थिति कुछ और है। परमालरासो एक वीर-गीत है, पर इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध हैं क्योंकि परमाल और पृथ्वीराज का ऐसा संघर्ष इतिहास से प्रमाणित नहीं है, जिसमें पृथ्वीराज की पराजय हुई हो। अलबत्ता पृथ्वीराज से परमाल का युद्ध सन् ११८२ में अवश्य हुआ था, जिसमें परमाल पराजित हुआ और कालिंजर में जाकर छिप गया। सन् १२०३ मे कालिंजर पर मुसलमानी आक्रमण के समय उसकी मृत्यु हुई। आल्ह में परमाल का स्वरूप ही दूसरा है। इससे एक बात साफ़ हो जाती है कि आल्हा की कथा लोकजीवन से गृहीत कथा है।

लोक जीवन से गृहीत कथा का विकास सन् १६०० से १८०० के समय हुआ, जब देश को वीर नायकों के उत्सर्ग, शौर्य और सामाजिक व्यवस्थापन की अधिक आवश्यकता पड़ी। इसके पूर्व आल्ह खन्ड का साहित्यिक रूप विद्यमान रहा है, जो अल्हैतों के माध्यम से प्रचलित रहा है। विकास की एक अन्य अवस्था चार्ल्स ईलियट (इतिहासकार) द्वारा १८६५ में संग्रह और सम्पादन करते समय आई। तेईस युद्धों वाले आल्हा का रूप बावन युद्धों तक प्रसारित हो गया। अत: प्रमुख २३ युद्धों के बाद की कथा को प्रक्षिप्त माना जाय। आल्हा के प्रमुख चरित्र परमाल की पुष्टि तो प्रबन्ध-चिन्तामणि और पुरातन प्रबन्ध संग्रह के द्वारा होती है, परन्तु मदनपुर के शिलालेख से स्पष्ट हो ज़ाता है कि चौहानों के प्रमुख पृथ्वीराज ने परमर्दिदेव पर विजय प्राप्त की थी, इस विजय का प्रमुख कारण परमाल का विलासी और कायर होना था। परमाल और उनके राज्य की सुरक्षा करने वाले ये दो वीर ही थे, जिन्हें इलियट और डाउसन ने भी अपने इतिहास में बिना नाम के प्रस्तुत किया है। आश्चार्य लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी की (लोक गाथा काव्य आल्हा में) धारणा यह है कि आल्हा खन्ड ऐतिहासिक महत्त्व का काव्य है, इसमें केवल घटना के उपक्रम और उपसंहार को काव्योचित कल्पना के रंग में रंग दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि आल्हखन्ड की मूल कथा और कलेवर में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। अत: मूल आल्हखण्ड को केवल तत्कालीन सामाजिक दशा, सांस्कृतिक चेतना और धार्मिक वातावरण के आधार पर ही अन्त. साध्य से समझा जा सकता है।

आल्हखण्ड के रचयिता जगनिक ने जिस रूप में इस कृति का प्रणयन किया होगा, वह अपने मूल रूप में चन्देल, चौहान और गहरवारों के संघर्ष की कथा व्यंजित करती है। ये आपस में लड़ते-लड़ते विदेशियों को आमंत्रित भी करते प्रतीत होते हैं। छोटे-छोटे देशी राज्यों में बँटा यह देश तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक अस्त-व्यस्तता का स्पष्ट संकेत देता है। वैदिक और पौराणिक धर्म का बोल बाला सर्वत्र मिलता है। आल्हा में जहाँ-कहीं

सुमरनी, मंगलाचरण आया है, वहाँ पर शिव, शारदा देवी की वन्दना-प्रार्थना-प्रमुख है, परन्तु साथ ही कथा के कुछ अंशों से गोरखनाथ जैसे नाथों, सिद्धों आदि की चलाई उपासना पद्धति का भी आभास मिलता है। वास्तव में इस समय समस्त भारत शैवधर्म के प्रभाव में रहा है। महोबा के पास कालिंजर में शैव-मंदिर इसका प्रमाण है। परमाल भी अपने अंतिम समय में कालिंजर में रहा है। तात्पर्य यह है कि इस समय तक धार्मिक सहिष्णुता बनी थी। वैष्णव धर्म अभी प्रभाव में नहीं आया था, बाद में वैष्णवधर्म के अनुकूल आल्हा के चरित्रों में पाण्डवों का अवतार आरोपित किया गया।

आल्ह के समस्त चरित्र चमत्कारी और अद्भुत शौर्य प्रदर्शित करने वाले हैं। कथा में कुतूहल का भाव तो है साथ ही उपदेश वृत्ति भी प्रधान है। गलत कार्य करने वाले को नहीं छोड़ा जाना चाहिये। आल्हा-ऊदल के पूर्वजों को मारा गाया था, उसका बदला उन्होंने लिया। जाहिर है कि कोई अन्याय करे तो उसका बदला लो। आल्हा में सबसे प्रधान यही बात है, जो संस्कृति धर्म, सत्य, समाज और देश रक्षा के नाम पर बा-बार कही गई है। मध्ययुग के पूर्व जीवनमूल्यों की इतनी-सी सीमा होना स्वाभाविक बात है, राजनीतिक घटनाओं के बदलते रुख में यह लाजमी प्रतीत होता है। एक शांतिप्रिय जीवन, न्याय-व्यवस्था, सामन्ती जीवन को आदर्श रूप में स्थापित करने में आल्हा-ऊदल का त्याग, शौर्य, परोपकारी कृति सम्पूर्ण काव्य में इतनी बार दुहराई गई है कि वह जनसमाज को अधिक आकर्षित करने वाली सिद्ध हुई। इसके सिवा आल्हा की संरचना में इतनी सहजता है कि आम आदमी को वह सहज ग्राह्य हो जाता है। संरचना के कुछ नमूने इस प्रकार हैं। इसमें आल्हा छन्द या कड़खा छन्द का प्रयोग सर्वत्र है। इसमें पहली यति १६ मात्रा पर और दूसरी यति १५ मात्रा पर होती है। अन्त का अक्षर अवश्य लघु ही होता है। वीरों को उत्साह दिलाने वाले गीतों को कड़खा कहा जाता है और आल्हा में वीरों को ही नहीं, तत्कालीन समस्त राजपूतों को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न है :—

बारह बरस लौं कूकर जीये और सोरह लौंजिये सियार।
बरस अठारा छत्री जीये आगें जीयें तो धिक्कार॥

अथवा

सदा तरैया ना बन फूलै, यारो सदा न सावन होय।
स्वर्ग मड़ैया सब काहू को, यारो सदा न जीवे कोय॥

आल्ह खन्ड के कुछ वर्णन ठेका या टेक सभी लड़ाइयों में एक ही प्रकार से आये हैं। प्रारम्भ में मंगलाचरण होता है। अल्हैत शुरु करता है "वीर पंवारो मैं गावत हों, भूले अक्षर देव बताय।" जहाँ-कहीं छन्द पूरा करने में

कठिनाई आती है, अल्हैत तुरन्त बोलता है 'मैं तुमै हाल देऊँ बताय, ज्वानी सुनियो कान लगाय, भैया सुनियो बात हमार या सुनो हकीकत अब लाखा की।" कथा बढ़ाने के प्रसंग में 'हियां की बातें हियापै रै गई अब आंगौं की सुनो हवाल। यदि उसे संक्षेप में कोई बात कहनी है, तो तुरन्त जोड़ देगा—'जादा कौन करै बकवार।' शीघ्रता में कोई बात समाप्त करनी हैं तो 'बीतै घरी-घरी कै बार' तथा जहाँ उत्सुकता' अधैर्य, सन्देश, शोक की बात है 'हाय दैया गत नें जानी जाय'। पर चरित्र को उद्बोधन उपदेश देते समय 'राम बनैहै तो बन जैहै, बिगरी बनत-बनत बन जाय। अतिशय उद्बोधन की दशा में 'पाँव पिछारैं हम ना धर हैं चाहे तन धजी-धजी उड़ जाय' या 'खटिया पर मरै बलाय चाहै प्रान रहैं कै जायँ, दुई में एक आंकु रह जाय जैसी शब्दावली जनमानस को कार्य सम्बन्धी दृढ़ता देने में विशेष सहायक सिद्ध होती है।

आहल्हाकार ने जहाँ किसी बैठक का वर्णन किया है वहाँ 'बिछे गलीचा उदू मखमल के जहँ मोखन लग पायं समायं। राजसभा का वर्णन तबला ठनकै वृजवासन को, माँ होय परिन को नाच, अथवा 'बारह जोड़ा नाचै पतुरिया, सोलह जोरा गवैयन क्यार, वीर सभा है तो 'तेगा के संग तेगा रगरै, ढालैं रगर रगर रह जाएं, या टिहुना धरैं जगन तरवार' 'राजसभा के वर्णन में 'लगी कचहरी पृथ्वीराज बैठे-बैठे बड़े-बड़े उमराव' 'इसी प्रकार रसोई वर्णन में—'चढ़ी रसोइयां रजपूतन की बटुअन पकै हरिन को मांस' 'किसी वीर के वर्णन में 'जूता लपेटा मरजत आवे, खटकत आवै ढाल तरवार' 'युद्ध के वर्णन में 'पहले डंका में जिनबन्दी, पूजे डंका में असवार, हाथी चढ़ैया हाथी चढ़िगे, बाकी पैदल चलै अगार, या—खट् खट् खट् तेगा बाजे, बोले छपक-छपक तलवार चलै जुनव्वी औ गुजराती, सुना चलै विलायत क्यार, या एक को मारै दुई मर जाय, तीजो खौफ खाय मर जाय, आदि अभिव्यक्तियों में 'आल्हा' के प्रति सहज आकर्षण इसलिए बढ़ता है कि ये सरल है, सब लड़ाइयों में काम आती हैं और अल्हैत को अपना प्रभाव जमाने में बार-बार इन्हीं का प्रयोग करना पड़ता है। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि आम ग्रामीण अपनी बिसात भर जितना करने, कहने और मरने की सोच सकता है, वह आल्हा का प्रत्येक पात्र करता, कहता और भोगता है। आल्हा में मानस की भाँति ही व्यवस्था के प्रति समर्पण, मानव का सत्कार, न्याय की स्थापना, आदर्शों का उद्घोष है, यही मानसकार ने पाण्डित्य और काव्य की गरिमा के साथ प्रस्तुत किया है, परन्तु आल्हाकार ने इसमें अपनी काव्यप्रतिभा का कोई प्रदर्शन नहीं किया। सरल, गेय और धारावाहिक कथा-प्रवाह में एक खास ढंग की अभिव्यक्ति में प्रसंगो के

अनुसार जिस नवीनता का गुम्फन आल्हखण्ड में हुआ है, वह लोक शैली के अधिक नजदीक है, इसीलिये लोक को सर्वाधिक प्रिय है।

आल्हा लोकगाथा काव्य है, वह महाकाव्य नहीं है। लोक गाथा काव्य को विद्वानों ने विकसनशील महाकाव्यों के अन्तर्गत परिगणित किया है। भाषा काव्यों के उद्भव और विकास में विकसनशील महाकाव्यों ने बहुत महत्व-पूर्ण योगदान किया है। आल्हा की एक व्याख्या यह की जाती है कि इसमें निम्नवर्ग का उच्चवर्ग के प्रति विद्रोह है। सामन्ती व्यवस्था के प्रति एक आक्रोश है परमाल ऐसा राजा था जिसने 'ओछी जात बनाफर बयार आल्हा ऊदल को अपने सामंतों में परिगणित किया है। 'बनाफर' अब भी विवाद के विषय हैं क्योंकि श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने उन्हें नीची जाति के न मानकर पुराणों में वर्णित विश्वस्फाणि के अपभ्रंश में बनस्फर और बाद में बनाफर माना है। जनसमाज में यही प्रचलित है कि क्षत्रियों में बनाफर ओछी जाति के हैं। आल्हा ऊदल का शौर्य इस संदर्भ में ओछी जात के नेतृत्व, 'न्याय स्थापना और त्याग बलिदान की गाथा प्रस्तुत करता है, निश्चय ही सामान्य जनों को वह प्रभावित करने वाला है। सामान्य का विशेष की ओर उन्नयन होना सभी को आकर्षित करता है, वे इसमें अपनी उन्नति का द्वार देखते हैं।

इस प्रकार आल्हा में ग्रामीणों की मानसिकता है। उनकी समस्याओं का समाधान, कठिन कार्य के लिए उद्‌बोधन, गम्भीर परिस्थितियों में धैर्य और आलसियों को क्रियाशीलता का उपदेश है। भाषा की दृष्टि से अवसर आल्हा को बैसवाड़ी की कृति माना जाता है, जो गलत है। महोबा बुन्देलखन्ड का एक भू-भाग है तथा वहाँ पर बुन्देली का एक प्रकार बनाफरी का प्रयोग होता है। यह बात पृथक् है कि आल्हा ने दूसरी बोलियों और भाषाओं वालों को आकर्षित किया है, जिसमें आल्हा के अनेक रूप बन गये हैं।

वर्तमान समय में 'आल्हा' ग्रामीणों के लिये अधिक प्रासंगिक है, क्योंकि वर्तमान जीवन की कठिनाइयों में धैर्य, उत्साह और क्रियाशीलता तो मन्द पड़ ही जाते हैं, जीवन मूल्य भी बदल गये हैं। साधारण किसान या मजदूर को ऐसे समय में आल्हा का गायन, पठन-पाठन, पूरी जीवन शक्ति से भर देता है। आल्हा का इसीलिये बरसात के अवसर पर ही पाठ होता है, कहावत ही बनाई है—

> भरी दुपहरी सरवन गाइये सोरठ गाइये आधी रात।
> आल्हा पवाड़ा वा दिन गाइये जा दिन झड़ी लगे दिन रात॥

कम-से-कम एक बार आल्हा प्रारम्भ हो तो सुमरनी और भूमिका के बाद एक विजय का पूरा वर्णन तो हो जाये, फलागम की प्राप्ति आस्वादक के लिए अनिवार्य है। इसलिये इसे वर्षा का आख्यानगीत माना जाता है। मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि इससे वर्षा हो सकती है पर इतनी बात अवश्य है कि ग्रामीणों की अवकाश बेला (वर्षा) में आल्हा सुख की बौछार अवश्य करता है और इसे चौपाल या अलाव पर सभी वर्णों के लोग ध्यान से सुनते ही नहीं, आल्हा की थाप पर हाँक भी देते हैं। जिस तन्मयता के साथ आल्हा की वाचना और आस्वादन होता है, वह वास्तव में विरल है, इसीलिए आल्हा आज भी प्रासंगिक बना हुआ है।

पृथ्वीराज रासो का महोबा खंड, परमाल रासो और आल्हाखंड पर एक तुलनात्मक दृष्टि ।

डॉ० भगीरथ मिश्र—

लोक महागाथा काव्य--आल्हा, उत्तरभारत में मौखिक रूप से प्रचलित एक ओजस्वी एवं करुण कथा है, जिसमें महोबा और कालिंजर के चन्देल शासक परमर्दिदेव (परमाल) तथा उनके आश्रित वीरों आल्हा-ऊदल की अनुपम त्याग और बलिदानमयी गाथा का रोमांचकारी वर्णन है। यह गाथा ऐतिहासिक आधार रखती हुई भी अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पनाओं तथा जंत्र-मंत्र, जादू-टोना के प्रसंगों एवं चमत्कार विलक्षण कृत्यों के वर्णन से भरी पड़ी है। आल्हा की कथा इतनी रोचक है कि ग्रामीण जनता इसको सुनकर इतनी विभोर हो जाती है कि वह इस कथा के मूल ऐतिहासिक आधार के साथ-साथ चमत्कारी काल्पनिक गाथा को भी सत्य और इतिहास मानने लगती है। साथ ही दूसरी ओर विद्वानों और आलोचकों के मन में इन चमत्कारी कल्पनाओं के कारण इसके किंचित् भी ऐतिहासिक होने में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार ऐतिहासिक कथा नितान्त असत्य और कल्पित सिद्ध हो जाती है। पर वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। जिस प्रकार अनेक प्राचीन भवनों और खंडहरों की मरम्मत कर नवीन बना दिया जाता है जिससे उनका स्वरूप काफी बदल जाता है, फिर भी उसके मूल में छिपे तत्व उसके इतिहास को उद्घाटित करते हैं उसी प्रकार की स्थिति इस मौखिक रूप में प्रचलित लोकगाथा-काव्य आल्हा की भी है।

श्रुत परम्परा में प्रवाहित इस लोक गाथा को सबसे पहले सन् १८६५ ई० में फर्रुखाबाद में तत्कालीन कलेक्टर सर चार्ल्स इलियट ने इसकी ५२ लड़ाईयों के साथ २३ खंडों में संकलित और संपादित करा लिपिबद्ध कराया था। उसके बाद वाटर फील्ड ने lay of Alha के नाम से इसके कुछ अंशों का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया और उनकी आकस्मिक मृत्यु के अनंतर डाक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन ने उस अंश को प्रकाशित कराया था। आल्हखंड के रूप में मुद्रित और प्रकाशित हो जाने के उपरान्त भी मौखिक रूप में प्रचलित विभिन्न क्षेत्रों के आल्हा की कथा एक सी नहीं है, फिर भी उसका मूलाधार एक ही है।

इस आल्हखंड की लोकगाथा के प्रणेता जगनायक या जगनिक हैं। ये ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और इनका उल्लेख पृथ्वीराज रासो और परमालरासो दोनों में ही हुआ है। इन ग्रन्थों में इन्हें भट्ट या भाट के रूप में चित्रित किया गया है। जिस प्रकार पृथ्वीराज रासो के रचयिता चन्ददरदायी भट्ट थे और अपने आश्रयदाता पृथ्वीराज चौहान की वीरता भरी कथा का उन्होंने चमत्कारी और प्रभावी वर्णन किया है, उसी प्रकार जगनिक ने भी अपने आश्रयदाता महोबा-नरेश परमाल और उनके आश्रित-ऊदल की वीरता का अदभुत वर्णन किया है। चन्द वरदायी के समान ही जगनिक भी परमवीर, नीति-शास्त्र पाठंगत लोकमानस का ज्ञाता समर्थ कवि और सन्धि विग्रह कार्यों में निपुण व्यक्ति था। रासो-काव्यों ट उसे भट्ट या ब्राह्मभट्ट कहा गया हैं, पर आल्हखंड में उसे परमाल के भानजे के रूप में चित्रित किया गया है, अतः वह अपने को क्षत्रिय सिद्ध करता है।

यद्यपि पृथ्वीराज रासो के महोबाखंड और जगनिक के आल्हखंड में वर्णित घटनाओं में बड़ा अन्तर है: पर दृष्टिकोण में अन्तर नहीं है। दोनों ही अपने काव्य-नायक को सर्वोपरि प्रतिष्ठा प्रदान करने का प्रयत्न करते हैं। जिस प्रकार चन्दवरदायी ने संयोगिता स्वयंवर द्वारा पृथ्वीराज को कन्नौजाधिपति राजा जयचन्द से अधिक वीर और गौरवशाली चित्रित किया है और उसके न चाहते हुए भी पुत्री संयोगिता का हरण कर उसका जामाता बनता दिखाया है, उसी प्रकार जगनिक ने भी परमाल पुत्र ब्रह्मादित्य का पृथ्वीराज के न चाहते हुए उसकी पुत्री बेला से विवाह का और उसके लिए विध्वंसकारी युद्ध करने का वर्णन किया है। ऐसा करने में जगनिक का उद्देश्य उस समय में महोबे के चन्देलराज को, उत्तरभारत के सर्वोपरि बखशाली सम्राट के रूप में प्रतिष्ठित करने का था, क्योंकि पृथ्वीराज चौहान सबसे अधिक शक्तिशाली सम्राट माना जाता था। इस प्रकार जगनिक कृत आल्हखंड की प्रामाणिकता, पृथ्वीराज रासो के समान ही है। पूर्ण ऐतिहासिक न होते हुए भी यह एक प्राचीन मौखिक रचना है।

इस प्रकार आल्हखंड की कथा हमें स्त्रोतों से प्राप्त होती है—प्रथम चन्द कृत पृथ्वीराज रासो के "महोबाखंड" से, द्वितीय परमाल रासो से और तृतीय आल्हखंड से। इन तीनों दृष्टि और उद्देश्य की भिन्नता के कारण कथा में भिन्नता मिलती है। इसअ साथ ही साथ कुछ बातें तीनों में समान रूप से पाई जाती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि समान रूप से पायी जाने वाली घटनायें ऐतिहासिच सत्यता के अधिक निकट हैं और भिन्नता के कारण कवि की कल्पना तथा उसका लेखन-सम्बन्धी उद्देश्य एवं परिवेश और परिस्थितियाँ

हैं। आल्हाखंड की कथा का मुख्य और संक्षिप्त रूप पृथ्वीराज रासो के महोबा-खंड में पाया जाता है। परमाल रासो में उसका विस्तृत रूप है, पर सबसे अधिक विस्तार आल्हाखंड मिलता है जिसमें आल्हा ऊदल की बावन लड़ाईयों का रोचक और चमत्कारपूर्ण वर्णन है। आल्हाखंड नाम इसे संग्रह के बाद दिया गया। यदि यह मूल नाम होता, तो यह अनुमान किया जा सकता था कि यह किसी "रासो" नामधारी ग्रन्थ का खंड होगा जैसा कि पृथ्वीराज रासो का महोबाखंड है।

वास्तव में भिन्नता इसलिए विशेष रूप से आ गयी है, क्योंकि तीनों के लेखकों के उद्देश्य और परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं। महोबा खंड पृथ्वीराज रासो का अंश है जिसके लेखक, चन्द वरदायी हैं। उनका उद्देश्य पृथ्वीराज को सर्वोपरि सम्राट सिद्ध करना है जिसने अपने समकालीन सभी राजाओं पर विजय प्राप्त की थी। 'परमाल रासोकार का उद्देश्य चन्देल राजा परमर्दि-देव (परमाल) को अपने समय का सर्वशक्तिशाली राजा सिद्ध करना है और आल्हखण्ड के रचियिता का उद्देश्य .कथानायक आल्हा को सबसे अधिक बल-शाली और उदात्त व्यक्ति के रूप में स्थापित करना है। आल्हखण्डकार की कल्पना इतिहास की नींव पर ही अपनी रचना करती है, इसीलिए आल्हा-ऊदल को परमाल के आश्रित सरदारों के रूप में ही चित्रित किया है अन्यथा आल्हा उदात्त, गंभीर और धीर-वीर व्यक्तित्व में पूर्णतया स्वतन्त्र नायक और सम्राट होने की विशेषता थी और यदि रचयिता केवल कल्पना का सहारा लेता, तो किसी अन्य देश के स्वतन्त्र सम्राट के रूप में उसका चित्रण कर महान् काव्य-कृति की रचना कर सकता था। पर ऐसा न कर उसने सम-कालीन ज्ञात और प्रचलित इतिहास का आधार लेकर अपना गेय लोकगाथा काव्य रचा। उसमें समकालीन विश्वास, तंत्र-मंत्र, जादू-टोना और अत्युक्तियों के साथ नीति, अनुभव, त्याग, बलिदान और स्वाभिमान से युक्त ऐसी स्मरणीय वाक्यावलियाँ पिरो दी हैं कि उसकी एक-एक पंक्ति चमत्कार से जगमगाती है और भाव की तरलता से हृदय को आर्द्र कर देती है। अपने इन्हीं गुणों के कारण आल्हा मौखिक रूप से भी जीवित रहा और मेरा विचार है कि भाषा-भेद से शब्दावली चाहे अब बदल गयी हो, पर भाव, विचार और घटना-वस्तु वर्णन वैसे के वैसे ही चले आते हैं। हम कह सकते हैं कि कवित्व और सहज भाव-संप्रेषण के गुण आल्हखण्ड में सर्वाधिक हैं।

इन तीनों ग्रन्थों में आल्हाऊदल की कथा को संक्षेप में प्रस्तुत करने पर इनकी समानताओं और भिन्नताओं को सरलता से देखा जा सकता है पृथ्वी-राज रासो के महोबा खण्ड में प्राप्त कथा का संक्षेप इस प्रकार है। समुद्र

शिखर के युद्ध में विजय प्राप्त कर और पद्मावती से विवाह कर जिस समय पृथ्वीराज दिल्ली लौट रहे थे 'उस समय कुछ घायल सरदार मार्ग भूलकर' महोबा जा पहुँचे। वर्षा के कारण आश्रय ढूँढते हुए वे महोबा के राजोद्यान में पहुँचे और वहाँ डेरा डाला। उद्यान-रक्षकों के विरोध पर संघर्ष हुआ। परमाल ने यह खबर पाकर तथा उद्यान रक्षकों के मारे जाने की सूचना पर अपने सैनिक भेजे। दोनों दलों में युद्ध हुआ जिसमें महोबा के तीन हजार सैनिक काम आये। इस पर परमाल ने ऊदल से दंड देने को कहा। ऊदल ने इसका विरोध किया कि छोटी सी बात पर पृथ्वीराज से बैर लेना ठीक नहीं, पर परमाल ने माहिल की कुमंत्रणा से आग्रह किया तब वे युद्ध के लिए गये। युद्ध में अनेक सूर सामन्त और चौहान का पुत्र मारा गया। इस समाचार को पा-कर पृथ्वीराज परमाल से रुष्ट हो गया और महोबे पर आक्रमण करने की ठान ली

इस बीच आल्हा और ऊदल को माहिल के षड्यन्त्र से परमाल ने देश निकाला कर दिया और वे परिवार और दलबल के साथ कन्नौज में राजा जयचँद के आश्रय में चले गये। इसी बीच माहिल के कहने पर पृथ्वीराज ने महोबा पर आक्रमण कर दिया और सिरसागढ़ पर, मलखान आदि का वध करके, कब्जा कर लिया। इसकी सूचना पाकर महोबे में खलबली मच गयी और महारानी मल्हनादेवी के परामर्श से जगनिक को कन्नौज भेजकर आल्हा-ऊदल को बुलाया गया। पृथ्वीराज चौहान ने इस बीच महोबे के पास अपना शिविर डाल दिया। मल्हना ने पत्र लिखकर जगनिक के पुत्र जल्हन के साथ बहुमूल्य भेंटभेजकर पृथ्वीराज से विनय की कि कुछ समय के लिए युद्ध बन्द रखा जाय। पृथ्वीराज ने यह बात मान ली। उधर जगनिक किसी प्रकार समझा बुझा कर आल्हा-ऊदल तथा कन्नौज के राजकुमार लाखन कों दल-बदल सहित पृथ्वीराज से युद्ध करने के लिए लाये। आल्हा ने परमाल को दस हजार सैनिकों के साथ कालिंजर भेज दिया और दोनों सेनाओं में भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में क्रम-क्रम से लाखन, जल्हन, ऊदल, जगनिक, ब्रम्हादित्य आदि चन्देल सेना की ओर से लड़ने वाले योद्धा मारे गये। आल्हा क्रुद्ध होकर ज्योंही युद्ध के लिए उपस्थित हुए, उसी समय चन्द के पर आल्हापनर गुरू गोरखनाथ वहाँ आ गये और युद्ध की व्यर्थता बताकर उन्हें योग से अमरता प्राप्त करने का उपदेश दिया और अपने साथ ले गये। पृथ्वीराज भी मूर्छित हो गये थे, पर संजय-राय ने उन्हें बचाया। चामुंडराय इस बीच कालिंजर पहुँचा और परमाल को बन्दी बनाकर कालिंजर पर अधिकार कर लिया और पृथ्वीराज चौहान सेना सहित दिल्ली को लौट गये।

इस प्रकार महोबा खंड में केवल पृथ्वीराज के साथ एक युद्ध का वर्णन है। पृथ्वीराज की विजय दिखाते हुए भी इसमें आल्हा, ऊदल ब्राम्हा, जगनिक, लाखन की अद्भुत वीरता का वर्णन है, पर चन्देल राज परमाल को कायर चित्रित किया गया है।

परमाल रासो, पृथ्वीराज रासो के बाद की कृति है और इसे १६वीं शती के आस-पास की रचना माना जाता है। यह रासो के बाद की है, वह बात इस दोहे से प्रकट है—

भारथ किय भुव लोक महँ, गनतिय लक्ष प्रमान।
चाहुवान जस चन्द कवि, किन्हिय ताहि समान।।

इसमें मूल आधार पृथ्वीराज रासो का ही है, पर उसमें बीच-बीच में वे कथायें भी समाविष्ट कर दी गयी हैं, जो आल्हखंड में आयी है वे क्षेपक रूप में जान पड़ती हैं, क्योंकि मूल कथा की श्रृंखला में वे कहीं-कहीं अनर्गल लगती हैं। यह बात 'परमाल रासो" के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट हो जायेगी। ३६ अध्यायों और ५५३ पृष्ठों में प्रकाशित इसकी कथा इस प्रकार है।

चन्द्रब्रम्ह से चन्देल कुल की उत्पत्ति और चन्द्रवंश का वर्णन कर वंशावली दी गयी है। यह वंशावली ऐतिहासिक नहीं है। आल्हा-ऊदल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा।

दसराज के प्रकटे सुवर, आल्हन ऊद कुमार।
वंस बनाफर अबतरे, बल्लि सल्लि अवतार।।

इसके बाद की कथा, पृथ्वीराज रासो के महोबा खंड के समान है जिसमें समुद्र शिखर की राजकुमारी पद्मावती से विवाह कर दिल्ली लौटने, गौरी को पराजित करने और बन्दी बनाकर ले जाने का वर्णन है। घायल सरदारों के भटक कर महोबा जाने और उनके साथ माहिल और भोपति के कहने से परमाल के दुर्व्यवार का वर्णन है। ऊदल इसका विरोध कर गायल सरदारों को आश्रय देने की भी बात कहते हैं—

चंदेलराज मानहु अरज, अर्थ सरै सोइ कीजिये।
रजपूत दूत हनिये नहीं, जीवदान नृप दीजिये।।

पर चन्देल राज इसे न मान कर युद्ध की आज्ञा देता है और इस कार्य से चन्देल-चौहान वैमस्य बढ़ता है। पृथ्वीराज का महोबा पर आक्रमण सिरसागढ़ पर विजय, मलखान की वीरगति, जगनिक का आल्हा को मनाने जाना; मल्हना के कहने पर जल्हन का भेंट लेकर पृथ्वीराज के पास जाना और दो मास तक युद्ध स्थगित रखना, आदि घटनाओं के बाद फिर युद्ध का वर्णन है।

यह सब पृथ्वीराज रासो के महोबाखंड के आधार पर ही है। पर बीच-बीच में आल्हाखण्ड की घटनाओं को ठूँस दिया गया है। जैसे मल्हनादेवी और चन्द्रावली का कीर्तिसागर में जाने का वर्णन, तथा आगे चलकर जगनिक के मनाने की कथा आल्हखण्ड के आधार पर पुनः कही गयी है। साथ ही पृथ्वीराज के रुष्टता का कारण उनकी पुत्री बेला का बरबस ब्याह करना बताया गया है। इसी के बाद आल्हखण्ड के समान बेला के विवाह की कथा का विस्तर से वर्णन है। पर 'प्रचलित आल्हखण्ड' से इसमें थोड़ी भिन्नता है। इसमें यह कहा गया है कि माहिल के कहने पर परमाल ने छोटी जाति के बनाफर सामन्त आल्हा-ऊदल को विवाह में ले जाना उचित न समझ, उन्हें महोबे की रक्षा के लिए छोड़ दिया। पर बारात-प्रस्थान पर महोबे को अमुरक्षित जान यवत राज ने महोबे पर आक्रमण कर दिया आल्हा-ऊदल ने उसे युद्ध में मार भगाया और उसे गया क्षेत्र तक खदेड़ दिया तथा एक करोड़ मुद्रायें दण्ड में ली। वहाँ से लौटने पर देखा तो जगनिक ब्रम्हादित्य के साथ, आल्हा को दिल्ली ले जाने के लिए आये थे, क्योंकि पृथ्वीराज के विवाह पूर्व द्वारचार करने की शर्त लोहे का खंभ तीर या बरछी से चीर डालने की रखी थी। यह काम किसी के बूते का नहीं था। अतः विवश होकर परमाल को आल्हा-ऊदल को बुलाना पड़ा। बेला-विवाह की कथा में आल्हाखण्ड में अनेक लड़ाइयाँ हैं, पर इसके अनुसार लोहे के खम्भ-भेदन के उपरान्त विवाह सकुशल सम्पन्न हुआ और बेला की बिदा भी हो गयी। खम्भ-भेदन का वर्णन परमाल रासो में इस प्रकार है—

सुमिरि पवन सुत आल्हनृप, गल्लिय सेल सँभारि।
लगिव बज्र जिमि भूधरा, गयब खम्भ कहँ फारि।।

इस बेला-विवाह के उपरान्त फिर इसमें उल्लेख है कि विवाह के कारण जो वैमनस्य कम हो गया था, वह घायल सरदारों के मरवा डालने से फिर बढ़ गया। अतः यह प्रसंग "परमाल रासो" का मूल रूप नहीं, वरन् उसमें बाद में आल्हखण्ड के आधार पर जोड़ा गया जान पड़ता है। परमाल रासो में पूर्ववर्ती लड़ाई में पराजित होकर पृथ्वीराज के दिल्ली वापिस जाने की बात है, पर इस दुबारा आक्रमण में महोबाखण्ड में वर्णित युद्ध का और विस्तर से वर्णन है, जिसमें आल्हा को छोड़ सभी मारे गये। पृथ्वीराज मूर्छित हो गये और आल्हा जैसे ही उन्हें बन्दी बनाने को आगे बढ़े, वैसे ही गोरखनाथ का आगमन हुआ और उनके आदेश से आल्हा, अस्त्र-शस्त्र त्याग अमरत्व प्राप्त करने के लिए तप करने चले गये। इसके उपरान्त चामुंडराय, येरमाल को कलिजर

पकड़ लाया। परमाल ने आत्मग्लानि से समाधि लेकर देह त्यागी। सभी स्त्रियाँ सतीं हो गयीं। कुछ समय बाद आल्हा के पुत्र इंदल की सहायता से परमाल के पुत्र रणजीत ने पज्जून राय को हरा कर महोबे पर कब्जा कर लिया। "परमाल रासो" कार ने अन्त में कहा है कि इस युद्ध के पीछे हिन्दू राज्य नहीं रह गया तथा दिल्ली, कन्नौज और महोबे में तुर्कों का राज्य स्थापित हो गया। इस प्रकार पृथ्वीराज रासो की कथा के साथ आल्हखंड की प्रचलित मौखिक कथा के कुछ अंशों को मिलाकर परमाल रासोकार ने इसकी रचना की। परमालरासोकार का दृष्टिकोण राष्ट्रीय है, क्योंकि उसने दो प्रसंगों में विदेशी आक्रमण कारियो को हरा कर आल्हा-द्वारा अपने देश की रक्षा करने की बात कही। एक बार जब वे कन्नौज में जयचन्द के यहाँ थे, तब उन्होंने काबुल की ओर से विदेशी आक्रमण-कारी सेना को मार भगाया था और दूसरी बार जब बेला के विवाह के समय आल्हा महोबे की रक्षा के लिए रखे गये थे, उस समय आक्रमण करने वाले तुर्कदल को उन्होंने गया क्षेत्र और बंगाल की ओर खदेड़ भगाया था और दंड स्वरूप एक करोड़ मुद्रायें प्राप्त की थीं। इस प्रकार घटनायें जो घटित हुई, उन्हें तो लेखक बदल नहीं सकता, पर उनके परिणाम-स्वरूप एक राष्ट्रीय संगठन की भावना भरना उद्देश्य जान पड़ता है। इस दृष्टि से इसका अपना महत्व है। परमाल रासो का कवि अज्ञात है। हो सकता है कि वह जगनिक की ही रचना हो।

आल्हखंड की कथा वस्तु को जगनिक ने अपनी कल्पना के द्वारा विशेष रोचक और रोमांचकारी बनाया है और उसे एक गाथा का रूप दिया है। इसमें बावन लड़ाइयों का वर्णन है जिसके द्वारा आल्हा-ऊदल की व्यापक ख्याति हुई। उसकी संक्षिप्त कथा वस्तु इस प्रकार है—

कहा जाता है कि महाभारत की अपूर्ण युद्ध लालसा को पूरी करने के लिए आल्हखंड के युद्ध हुए जिसमें युधिष्ठिर आल्हा, अर्जुन, ब्रम्हा'बभ्रुवाहन, ऊदल, अभिमन्यु इन्दल, द्रोपदी-बेला और दुर्योधन-पृथ्वीराज थे। इस प्रकार महाभारत की लड़ाई जैसे पुनरुक्त हुई। प्रमुख लड़ाइयाँ निम्नलिखित है—

सबसे पहले जयचन्द पुत्री संयोगिता का स्वयंवर है जिसके परिणाम स्वरूप राठौर जयचन्द और चौहान पृथ्वीराज में लड़ाई हुई। उसके बाद मांडौगढ़ का भीषण युद्ध है। मांड़ोनरेश जम्बे प्रबल योद्धा था। उसके पुत्र कालिंग राय या करिया ने नौलखाहार पाने के लिए महोबे पर चढ़ाई की और आल्हा—ऊदल के पिता दस्सराज और मलखान के पिता बच्छराज का सिर काट कर ले गया और अपने वहाँ वृक्ष पर टंगवा दिये साथ ही नौलखा-हार, लाखा पातुर, पंचसावद हाथी पपीहा घोड़ा भी लूटकर ले गया। जब

आल्हा—ऊदल बड़े हुए तो इन्होंने पिता के बध का बदला लेने की ठानी और भयंकर युद्ध करके करिया और जम्बे को मारा और पिता का बदला लिया तथा सभी चीजें वापिस लीं।

उसके बाद नैनागढ़ की भयंकर जादू भरी लड़ाई हुई, जिसमें अमरढोल फूटा और वहाँ के नरेश नृपालसिंह की पुत्री सुनवाँ स्वर्णबाला के साथ आल्हा का विवाह हुआ। फिर कोट कसोदी की लड़ाई हुई और गजमोतिन के साथ मलखान का विवाह हुआ। बौरीगढ़ की लड़ाई हुई और चंदेल की बेटी चन्द्रवली की बिदा करायी गयी। फिर परमाल पुत्र ब्रम्हानंद का पृथ्वीराज की पुत्री बेला के साथ ब्याह करने में भीषण युद्ध हुआ। उसके उपरान्त नरवरढ़ की लड़ाई हुई और ऊदल का विवाह राजकुमारी फूलमती। फुलवा। से हुआ। उसके बाद दशहरा पूर्व पर स्नान के समय आल्हा पुत्र इन्दल का हरण हुआ, फिर अनेक प्रकार के जादू-टोना आदि के साथ युद्ध हुआ और इन्दल का विवाह चित्रलेखा के साथ हुआ। आल्हा-ऊदल के महोबे से निष्कासन की कथा के अनन्तर बूंदी की लड़ाई हुई और लाखन का कुसमा से विवाह हुआ। आल्हा ऊदल जब जयचन्द के यहाँ कन्नौज में थे, तब उन्होंने कर वसूल करने के लिए गांजर में अनेक युद्ध किये और कन्नौज का राजकीय कोष भरा आल्हा-ऊदल को महोबे से बाहर देख पृथ्वीराज ने चढ़ाई की और सिरसा की लड़ाई में मलखान का बध किया। उसके बाद भूँजरियों के अवसर पर जब मल्हना और बेटी चंद्रावली कीर्तिसागर पर गयी थीं पृथ्वीराज ने आक्रमण कर दिया। लड़ाई हुई पर जोगी वेश में ऊदल, लाखन आदि ने उनका रक्षा की। पुनः पृथ्वीराज ने महोबे पर चढ़ाई की। मल्हना के द्वारा जगनिक के माध्यम से आल्हा-ऊदल बुलाये गये। कन्नौज की सेना के साथ पृथ्वीराज की सेना का युद्ध हुआ, जिसमें पराजित हो पृथ्वीराज को वापिस लौटना पड़ा। इसके बाद ऊदल-हरण का प्रसंग और नट-बेड़ियों के युद्ध का वर्णन है। आल्हखंड का अन्तिम भीषण, कारूणिक और दुखान्त युद्ध बेला के गौने का है जिसमें बेलाके पति ब्रम्हानंद पर उसके भाई ताहिर चामुंडराय आदि ने धोखे से प्राणघातक हमला किया। ऊदल आल्हा के जाने पर बेला का जबरदस्ती गौना हुआ। बेला पर ब्रम्हादित्य ने अविश्वास किया और विश्वास करने के लिए भाई के सिर लाने की बात कही। बेला का उसके भाई ताहर से युद्ध हुआ। वह सिर काटकर ले गयी। उसे देख ब्रम्हादित्य ने संतोष का सांस ली और फिर प्राण छोड़ दिये। फिर बेला के सती होने के लिए पृथ्वीराज की चन्दन बगिया काटी गयी। तथा दरबार के चंदन के खंभ लाये गये। चिता रची गयी और बेला सती हुई। पर इस युद्ध में

ऊदल, लाखन, जगनिक आदि सभी मारे गये। जब पृथ्वीराज और आल्हा का युद्ध हुआ, तो आल्हा ने पृथ्वीराज को घेर लिया और उनकी आँखों में मील डालकर छोड़ दिया। इसी समय गुरू गोरखनाथ आ गये। वे लोग-साधना के लिए उन्हें ले जाना चाहते थे, तभी उनकी पत्नी सुनवाँ ने कहा कि आल्हा ने अन्त में ऊदल को मरवाही डाला। अपनी पत्नी के इन वाक्यों से विरक्त हो आल्हा कजरीवन चले गये। रानी मल्हना ने पारसमणि की पूजा कर उसे कीतिसागर मे विसर्जित कर दिया। एकादश व्रत कर परमाल ने समाधि ले ली। रानियों ने चिता में शरीर भस्म कर दिये। दिल्ली, कन्नौज और महोबे में शोक के बादल छा गये। चारों ओर निराशा फैल गयी। और सारा उत्तर भारत अनाथ हो गया। इस समय वही स्थिति हुई जो महाभारत के युद्ध के बाद हुई थी। पर महाभारत के युद्ध, धर्म की स्थापना के लिए थे और ये युद्ध अभिमान भाव को तृप्त करने और अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए थे। इनका परिणाम यह हुआ कि भारतीय शौर्य और वीरता पारस्परिक वैमनस्य के कारण पराजित हुई और भारत देश पर विदेशी आक्रमणकारियों का साम्राज्य स्थापित हो गया। यह दासता लगभग एक सहस्त्र वर्ष बाद दूर हो सकी।

पूर्वोक्त तीन स्त्रोतों के अतिरिक्त आल्हखंड की कथा के कुछ अंश कवि बुधमाधव द्वारा रचित बलभद्र विलास में भी मिलते हैं। यह ग्रंथ राजस्थान के महोबा राज्य के शासक बलभद्रसिंह चौहान के आश्रित कवि बुधमाधव-द्वारा लिखा गया था। इसका प्रकाशन सन् १६६० ई० में हुआ। इसमें सं० ११११५ में जन्में पृथ्वीराज की जन्मकुँडली और उनकी जीवन गाथा का वर्णन है। इसमें ११७ विलास है। ६७ से ७० तक के चार विलासों में परमाल से संबन्धित प्रसंग हैं। इस ग्रंथ के संस्कृत श्लोकों का हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। अतः आगे इन चार विलासों की कथा के प्रसंग हैं—परमाल का पृथ्वीराज के घायल सरदारों के साथ युद्ध और ऊदल द्वारा मारा जाना। आल्हा-ऊदल का महोबे से निकाला जाना और कनवज में नौकरी करना। गुण मँजरी का न पाना और माहिल की चुगली पर पृथ्वीराज की महोबे पर चढ़ाई। सिरसा में मलखान का मारा जाना और परमाल से पारस का माँगना। जगदेव का आल्हा को मनाय कै लाना, आल्ह के साथ लाखन का आना। परमाल और पृथ्वीराज का युद्ध। परमाल का भागना आल्हा का पृथ्वीराज से बैर संभालना और लाखन का मारा जाना। पृथ्वीराज का युद्ध। ब्रह्मा, ऊदल, चामुँडराय, संजयराय, देवकरणादि की मृत्यु। पृथ्वीराज की मूर्च्छा, आल्हा का संग्राम। सैन्य का नाश। आल्हा का गोरखनाथ के साथ तपोवन में जाना। पृथ्वीराज का महोबे से नजर लेना और परमाल को महोबे का राज्य सौंपकर दिल्ली को

लौट जाना। इस ग्रन्थ में वर्णित घटनायें प्रायः ऐतिहासिक दृष्टि से भी ठीक उतरती है। इतिहास के अनुसार परमाल चन्देल महोबा के अन्तिम युद्ध के बाद भी जीवित थे और उसने सन् १००२ ई० में (१२५६ वि०) में कुतुबुद्दीन ने कलिंजर का किला जीता।[1]

उपर्युक्त विवरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रायः वे घटनायें जो इन सभी में समान रूप से मिलती है, ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य मानी जा सकती है। उनकी एक समान परम्परा रही है, परन्तु वे बातें जिनमें अत्युक्त और अलौकिक वर्णन और जादू-टोना या तंत्र-मंत्र के प्रसंग हैं, काल्पनिक हैं। उन पर समकालीन मध्ययुगीन तांत्रिकप्रभाव है, क्योंकि इस भाव की उस युग में व्यापक मान्यता थी।

अत्युकत और कल्पना-पूर्ण वर्णन होने पर भी अनेक युद्ध और घटनायें सत्य हैं। पृथ्वीराज और परमर्दिदेव के साथ-साथ आल्हा ऊदल मलखान, माहिल, ब्रम्हादित्य, लाखन, चामुंडराय, पज्जून, मल्हना, देवलदेवी, जगनिक आदि चरित्र भी ऐतिहानिक हैं। विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि प्रायः मूल घटनायें सत्य और ऐतिहासिक हैं, पर उनके वर्णन कवि-कल्पना युक्त और अतिशयोक्ति पूर्ण है। इसमें अत्युक्तियाँ इतनी ऊँची हैं कि लोग इनके लिए आल्हखण्ड का उदाहरण देने लगे और इस प्रकार पूरी को पूरी रचना केवल कल्पना की उड़ान समझी जाने लगी। इसके लिये कुछ दिये जाने वाले उदाहरण निम्नलिखित हैं—

गजभर छाती पृथ्वीराज की, साढ़े सात हाथ को ज्वान।

साढ़े सात हाथ का अर्थ हुआ ग्यारह फीट से अधिक लम्बा जो एक असंभावना है। इसी प्रकार प्रचलित है—

छोटो चमचा महुबे वारो, जामें नौ मन दाल अमाय।
थोर खवैया महुबे वारे, चमचा सात सात सै खांय॥

आदि। पर इस प्रकार की उक्तियाँ प्रामाणिक संस्करणों में नहीं है। मौखिक

1. In 1202 A. D. Kutubuddin marched against Parmal The Chadele P,ince of Bundelkhand. The latter found it impossible to resist oflectivele the Muslims and The fort of Kalinjar fell into the hands of the victors.

Histoiy of McdieVal India, R. 75
(by prof. Ishwari prasad)

काव्य होने के कारण प्रत्येक आल्हा-गायक को स्वतंत्रता मिल गयी कि वह उसमें अपनी कल्पना से जो कुछ चाहे जोड़ता चले। इस प्रकार प्रचलित आल्हाकाव्य में अनेक चमत्कार पूर्ण घटनायें, अत्युक्ति पूर्ण वर्णन, जादू-तंत्र के प्रसंग लोक कल्पना और विश्वास के आधार पर समाविष्ट हो गये जिन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं को ओझल कर दिया। ये प्रसंग इतने रोचक और आकर्षक लगे कि उन्हें इस लोक महागाथा काव्य से हटाना कठिन हो गया।

फिर भी इस आल्हखंड में वर्णित घटनाओं की ऐतिहासिकता खोजी जा सकती है। अगर एकाध चरित्रों के नाम, स्थान-नाम या घटना के स्वरूप में अन्तर दिखता है, तो इसका तात्पर्य तह नहीं कि उसके कारण सारी की सारी गाथा असत्य करार दे दी जाये। आज भी यदि किसी से पूछा जाये कि महात्मा गांधी के लड़कों के या पंडित नेहरू की बहिनों के क्या नाम थे, तो उसके उत्तर में भ्रम हो सकता है, क्योंकि वे इतनी प्रसिद्धि नहीं प्राप्त कर सके। फिर बहिनों में चचेरी बहनें आ सकती हैं। जब आज ऐतिहासिक दृष्टि से प्रबुद्ध युग में घटनाओं और नामों की स्थिति संदिग्ध है, तो उस युग में तो हो ही सकती है, जब इतिहास-बोध का पूर्णतः अभाव था।

मेरा अनुमान है कि "परमाल रासो" जगनिक की रचना हो सकती है। मौखिक होने से उसका रूप लिपिबद्ध करने वालों के मनोनुकूल बनता चला गया और मौकि लोकगीत गाथा काव्य की परम्परा अनेक रूपों में चलती रही, इस गये गाथा का सबसे अधिक लोकप्रिय और मान्य रूप वर्तमान आल्हखंड है। कल्पना और चमत्कार को पत्तों को उधेड़कर उसके भीतर ऐतहासिने तथ्यों के बीज उजागर किये जा सकते हैं। इस दिशामें प्रयत्न बांछनीय है।

आल्हखण्ड की युद्धपरक संस्कृति

—डा० हरिसिंह घोष

कवि जगनिक ने चन्देल राजा परमर्दिदेव के शासनकाल की लोमहर्षक युद्ध-घटनाओं को अपना काव्य-कलेवर बनाकर आल्हखंड में तत्कालीन युद्ध-संस्कृति का सजीव रूप प्रस्तुत किया है। कथा की तारतम्यता को बनाये रखने में कवि ने बुन्देली संस्कृति के अनेक अंगों को स्पर्श तो किया है, किन्तु प्रारम्भ से अंत तक सम्पूर्ण काव्य में युद्धों का ऐसा क्रमबद्ध वर्णन हुआ है कि आल्हखण्ड एक युद्ध-काव्य बन गया है।

एक ही जैसे संस्कारों के मूर्तरूप को संस्कृति कहते हैं, जिसकी व्यंजना वेष, भाषा, आचार व्यवहार तथा रीति रिवाज से होती है।[1] संस्कार परम्परा से आते हैं। चन्देलों के राजत्वकाल में चन्देलों और अन्य राजपूत वंशों के साथ वंशगत युद्ध सदैव सक्रिय रहे। उत्तर चन्देलयुग में अन्य राजपूत वंशों के प्रति इस वंश के शासकों की नीति अधिकतर उपचार की हो गयी और सभी इस बात के लिए यत्नशील रहे कि परम्परा-निर्वाह के लिए युद्ध अबाध रूप से चलते रहें। प्रत्येक उत्तराधिकारी अन्य वंशों के साथ वही सम्बन्ध चलाना अपना धर्म समझता था, जो उसके पिता के समय में था।[2] इसी भावना की पुष्टि में ऊदल के उद्गार द्रष्टव्य हैं —

बदलो लैहों मैं ददुआ को, माड़ौं खोद करैहों ताल।
सीस काटकें मैं कड़िया को, औ जम्बै को सीस उतार ।।
सो टंगवाय देउं महुबे में, दूनी लूट लेउं करवाय।
बंस नसैहों मैं कड़िया को, तब छाती की डाह बुझाय ।।

बारहवीं सदी के अन्य वीरकाव्यों में भी युद्ध-वर्णन की प्रधानता थी। डा० विपिन त्रिवेदी लिखते हैं कि रासो युद्ध-प्रधान काव्य है और तदनुसार उस समय की आदर्श वीरता का इसमें श्रेष्ठ चित्रण है।[3] आल्हखंड में अधिकांशतः अन्याय के प्रति युद्ध द्वारा विजय प्राप्त करना, पौरुष द्वारा अपनी पूर्व कीर्ति की रक्षा करना तथा मृत्यु के भय से विमुक्त रहना आदि वीरोचित घटनाओं के उभरे हुए कलात्मक चित्र प्रतिबिम्बित होते हैं।[4] आल्हाखण्ड का इतिवृत्तात्मक अंश कवि के कुशल-वस्तु वर्णन से अत्यन्त सरस हो गया है और भावव्यंजना का कलात्मक चित्रण हृदय के मर्मस्थल को सहज ही छू लेने में समर्थ है।

दुर्ग और कोट

मध्ययुग में युद्धों के लिए दुर्गों का अत्याधिक महत्व था। दुर्ग-रचना में वैज्ञानिक ढंग अपनाया जाता था। उसके लिए प्रायः पहाड़ियों के शिखर अथवा प्राकृतिक अवरोधों से घिरे स्थान चुने जाते थे। इतिहासकार श्री केशव चन्द्र मिश्र लिखते हैं कि चन्देल शासकों की कला स्थापत्य के क्षेत्र में अजेय दुर्गों के निर्माण में पराकाष्ठा पर पहुंची। ये सभी अपनी पर्वतीय स्थिति तथा बाहरी आक्रमण के विरुद्ध सुदृढ़ अजेयता के कारण इस देश की सुरक्षा के इतिहास में अद्भुत स्थान रखते हैं।[5] इन दुर्गों की अभेद्यता की पुष्टीकरण श्री जदुनाथ सरकार भी करते हैं—"यदि इन किलों में खाद्य सामग्री की व्यवस्था हो चुकी है अथवा यदि रात्रि के समय पिछले दरवाजे से चोरी छिपे खाद्य सामग्री आ सके, तो अधुनिक तोपखाने के पहले, इन क़िलों में आश्रय लिये हुए लोगों को वहाँ से कोई नहीं निकाल सकता था।"

आल्हखंड में कालिजर, महोबा, कन्नौज, सिरसागढ़, माड़ोंगढ़, बोरीगढ़, नरवरगढ़ (अजमेर से लगभग १५ मील दूर पर किशनगढ़ क्षेत्र में स्थित प्राचीन नरपुर[7]), नैनागढ़, बूँदी, पथरीगढ़, झुन्नागढ़, सिंहलद्वीप, पट्टीगढ़, कामरुप (ब्राह्मपुत्र की घाटी में स्थित उस काल का एक शक्तिशाली राज्य[8]), बिरियागढ़ और दिल्ली आदि स्थानों के दुर्गों का वर्णन आया है। इस वर्णन में दुर्ग-रचना-संबंधी जानकारी का पूर्णतः अभाव है। भौगोलिक स्थिति को भी यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया, कहीं-कहीं कुछ संकेत मिलते हैं, जो अधूरे हैं। गढ़ का भेद लेते हुए ऊदल और राजा जम्भे की बेटी के बीच हुई बातचीत से दुर्ग की दुर्गमता का संकेत मिलता है—

> कठिन किला है लोहागढ़ को, जंह पर जम्भे बाप हमार।
> बिना सुरंग वह नहिं टूटन कों, चाहे कोटिन करो उपाय॥
> किला दूसरो झांसीगढ़ है, जहं पर तपै कडिगा राय।
> बारहदरी कठिन बैठक है, जंह पर सूरज भाई हमार॥

वाहन, योद्धा और अस्त्र-शस्त्र

आल्हखण्ड के युद्धों में रथ, हाथी, घोड़ा और सांडिया का वर्णन वाहन के रूप में हुआ है। रथ भारतीय सेनाओं का सबसे गौरवशाली अंग था। प्रत्येक रथ चार घोड़ों द्वारा खींचा जाता था। रथ पर छः व्यक्ति अर्थात दोनों तरफ एक-एक ढाल वाहक और धनुर्धर तथा भाला लिये हुए दो रथ चालक सवार रहते थे।[9] चन्देल काल में रथों की सेना का महत्व कम हो गया था, आल्हखंड में भी रथ-युद्ध का वर्णन नहीं मिलता। श्री केशव चन्द्र मिश्र लिखते हैं कि नई परिस्थिति के प्रादुर्भाव के साथ रथ का युद्ध लद चुका था

और वे असफल सिद्ध हो चुके थे।[10] आल्हखंड में हाथी, घोड़े और बैलों द्वारा खींचे जाने वाले रथों के सजने के वर्णन से प्रतीत होता है कि सम्भवतः अब इनका उपयोग युद्ध की भारी सामग्री ढोने में होता था।

मध्ययुग में युद्ध के लिए हाथी महाभारत काल की तरह अत्याधिक महत्वपूर्ण था। चन्देलों की सेनाओं ने जितने भी निर्णयकारी युद्ध लड़े, सभी हाथियों की प्रमुखता से।[11] तत्कालीन नाटककार कृष्ण मिश्र ने प्रबोध चन्द्रोदय में सेना के मदमाते हाथियों का वर्णन किया है। आल्हखंड में सैन्य सज्जा के समय हाथियों का वर्णन आया है —

> हाथी सजावो कजरीबन के, सिंहलद्वीपी लेउ सजाय।
> बड़दन्ता औ छुटदन्ता सब, हाथी तुरतै लेउ सजाय॥
> इकदन्ता औ दुइदन्ता पर, हौदा धरो सोवरन क्यार।
> मेगुल भूरा हाथी साजो, छोटे पर्वत की उनहार॥
> खूनी हाथिन को सजवायो, पायंन देउ जंजीर बंधाय।
> भौंरागज, अंगद, पंगदगज, औ मलयगिरि लये सजाय॥
> मैनकुंज, धौलागिरि साजे, भूरा हाथी लये सजाय।
> मकुना हाथी सब सजवाये, मुड़िया हौदा दये धराय॥

उक्त वर्णन में हाथियों को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है। ये नाम उनके आकार-प्रकार और स्थान विशेष के हिसाब से रखे गये प्रतीत होते हैं। हाथियों के नाम रखने की एक परम्परा थी। अकबरनामा के युद्ध वर्णन में लोना, गजमुकुट, राम प्रसाद, गजराज और रणमदार आदि नामों से हाथियों को सम्बोधित किया गया है।[12] इससे इस परम्परा की पुष्टि होती है। समरांगण में हाथियों के कौशल बहुत प्रसिद्ध हैं। हाथी युद्ध-प्रशिक्षित थे और सैन्य-विन्यास तोड़ने तथा घुड़-सवारों को छिन्न-भिन्न करने में प्रसिद्ध थे।[13] जंजीर घुमाते हुए आल्हा के हाथी पचशावद के सामने भला कौन ठहर सकता था —

> खोली सांकल तब आल्हा ने, पचशावद को दई गहाय।
> फेरी सांकल तब हाथी ने, क्षत्रिन काट करो खरिहान॥

हस्ति सेना के साथ ही अश्व सेना का भी अत्याधिक महत्व था। भारतीय सेना में अश्वारोहिणी सेना की संख्या हस्ति सेना से अधिक रहती थी। इतिहासकारों का मत है कि सम्पूर्ण मध्य एशिया में सभी नस्लों के घोड़ों से तुर्कमान घोड़े श्रेष्ठ होते हैं।[14] भारत में तुर्कों के आगमन के पूर्व भारतीय सेना में विदेशी घोड़े नहीं थे। भारतीय घोड़ों का सैनिक-प्रशिक्षण भले ही नवीन युद्ध प्रणाली के अनुरूप न रहा हो, किन्तु उनकी श्रेष्ठ चाल, चतुराई

और स्वामिभक्ति कम नहीं थीं। तत्कालीन नाटककार कृष्ण मिश्र द्वारा रचित प्रबोध चन्द्रोदय की यह पंक्ति घोड़े की अत्याधिक तेज चाल का संकेत करती है। युज्यन्तां स्यन्दनेषु प्रसभजितमरुच्चण्डवेगास्तुर ङगाः[15]। अर्थात अप्रतिम वेग से पवन को भी हठात पराजित करने वाले घोड़े रथ में जोते जांय।

आल्हखंड में माड़ों पर चढ़ाई करने की तैयारी में चन्देलों के सेनापति सैयद अनेक जाति के तेज घोड़ों को सजाने का आदेश देते हैं—

> कच्छी मच्छी घोड़ा साजे, ताजी मुस्की लये सजाय।
> लख्खा गर्रा हरियल साजे, पचकल्याणी लये सजाय॥
> सब्जा सुर्खा घोड़ा साजे, औ दरयायी लये सजाय।
> श्यामकर्ण घोड़ा सजवाये, औ मुखमंजन लये सजाय॥
> चौघरि चाल कबूतर साजे, घोड़ा सफेदा लये सजाय।

घोड़ों में उड़न बछेड़ों का बड़ा चमत्कारी वर्णन आल्हखंड में हुआ है। पवन के समान वेग वाले उत्तम जाति के इन घोड़ों के सम्बन्ध में जनश्रुति है कि ये उड़ने वाले घोड़े थे। इनके नाम थे—पपीहा, करिलिया, हरनागर, मनुरथा, बेंदुला (दलगंजन) और घोड़ी कबुतरी तथा हिरोजिन नाम की दो घोड़ियां। पृथ्वीराज के भरे दरबार से ऊदल अकेले बेंदुला की दम पर बेला के लिये कुंडल लेकर सुरक्षित निकल आते हैं—

> झपटि उठाये दोनों कुंडल, औ राजा को करी सलाम।
> ऐंड़ लगाई रस बेंदुल के, फाटक निकर गये बा पार॥
> उड़न बछेड़ा पर ऊदन था, देखत रहे धनी चौहान।

चन्देल सेना में योद्धाओं की भरती केवल जेजाक-भुक्ति और सामंत देशों से ही की जाती थी।[16] इसलिये ये स्थानीय स्वदेशाभिमानी योद्धा अपनी जन्मभूमि और राजा के लिये समर्पित थे। हिन्दू प्रथा के अनुसार योद्धा रणभूमि में घनघोर युद्ध हेतु जाने के लिये प्रायः तीन बजे स्थान और पूजा करने के लिये उठ जाते, पहले से तैयार पकवान खाते, शस्त्र धारण करते और सूर्योदय के समय युद्ध-रेखा पर पहुँच जाते थे।[17] आल्हाखंड में गढ़माड़ों का राजकुमार सूरजमल उक्त हिन्दू प्रथा का निर्वाह करते हुए रण का बाना पहिनता है—

> चन्दन दीनों निज मस्तक पर, भुजदंडन पर लियो लगाय।
> लंग चढाय लई रेशम की, जामें गढ़ै नाहिं हथियार॥
> पहिले पहिरे वस्त्र बनाती, ताके ऊपर कुलह कबार।
> तेहि पर पहिरे झीलम अपनी, जामें टूट जाय तलवार॥
> ताके ऊपर बख्तर पहिरे, जामें सैल नाहिं अनियाय।
> टोप झलरिहा धरि माथे पर, गोली लगत चीप ह्वइ जाय॥

योद्धा की सजावट में उसके हथियार अत्याधिक महत्व रखते हैं। रण का बाना पहिने युद्ध के हथियारों से सुसज्जित सूरजमल इन्द्र के समान सुशोभित हो रहा है—

> बारह छुरियां कम्मर बांधे, कलहा दुइ बांधे तलवार।
> अगल बगल में दुइ पिस्तौलें, दहिने सिहिन मूठ कटार॥
> भाला सोहै नागदौनि को, बायें ओर गैंड़ की ढाल।
> जोड़ी बांधे कड़ाबीन की, गोली टका भरे की खाय॥
> लैकें पटुका कम्मर बांधे, कम्मर तीन-तीन बलखाय।
> लाल कमनियां है मुलतानी, गांसी ड्ढ़ेढ़ सेर की खाय॥
> सजिकें सूरजमल ठाढ़े, भै मानो इन्द्र अखाड़े जाय।

उपरोक्त पंक्तियों में पिस्तौल और कड़ाबीन (बन्दूक) वाला अंश प्रक्षिप्त है। भारतीय सैनिक आग्नेय शस्त्रों से उस समय पूर्णतः अनभिज्ञ थे।

सैन्य-सज्जा, ब्यूह-रचना और युद्ध

युद्ध की बहुलता के कारण सैनिक युद्ध के लिये सदैव तैयार रहते थे। युद्ध में रथ का प्रयोग ईसवी सन् के पूर्व ही बन्द हो जाने से अब सेना के तीन ही अंग थे—हस्ति सेना, अश्व सेना और पैदल सेना। समस्त सेना का अधिकारी महासेनापति और उसके नीचे प्रत्येक प्रमुख श्रेणी के लिये अलग-अलग सेनापति होते थे तथा सेनापतियों के सहायक बलाध्यक्ष होते थे।[18] आल्हखंड में 'दरोगा' शब्द का प्रयोग प्रक्षिप्त है।

योद्धा की साज-सज्जा के साथ ही हाथी-घोड़ा सजावट भी युद्ध के अनुकूल होती थी। महा सेनापति का आदेश मिलते ही सैन्य-सज्जा की तैयारी प्रारम्भ हो जाती थी। हाथियों की सेना के प्रमुख रक्षक महापिलुपति की देखरेख में हाथियों की सजावट होती थी। युद्ध के लिये घोड़े को सिर से पूंछ तक सजाया जाता था। केसर-मेंहदी से रचे खुर और पूंछ, सिर पर लगी मोतीचूर की कलगी तथा सोने-चांदी से सजा घोड़े का अंग-अंग अपनी अनूठी शोभा रखता था। आल्हखंड में दोनों की सज्जा के वर्णन मिलते हैं।

आल्हखंड के युद्धों में सेना की साज-सज्जा और तैयारी डंके की चोट के साथ होना और चोप नगाड़ा के बजते ही सेना का प्रस्थान सैनिकों की अनुशासनबद्धता को प्रदर्शित करती है—

> पहिले डंका में जिन बंदी दुसरे बांध लये हथियार।
> तिसरे डंका के बाजतखन क्षत्रिन धरे रकाबन पांव।
> चोप नगाड़ा के बाजतखन लसकर चला महोबे क्यार।

आल्हखण्ड के युद्ध वर्णन में व्यूह रचना का स्पष्ट विवरण नहीं मिलता, किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि चन्देल सैनिक व्यूहबद्ध होकर ही युद्ध करते थे और सेना-व्यूह का उत्तरदायी अधिकारी महाव्यूहपति होता था। महाभारत काल की ही तरह इस युग में सेना का व्यूहबद्ध होकर युद्ध करने की पुष्टि चंद वरदायी कृत पृथ्वीराजरासो में वर्णित अनेक प्रकार की व्यूह-रचना से होती है।

युद्ध प्राय आमने-सामने ललकार कर होते थे। सम्राट स्वयं युद्ध के मैदान में सैन्य-संचालन करता था।[20] युद्ध प्रारम्भ होने के पहिले दोनों पक्षों के सेनानायकों के बीच युद्ध के कारण पर क्रोधित मुद्रा में बातचीत आल्हखण्ड में बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से वर्णित हुई है—

मोती बढ़िगै तब आगे को औ ऊदन से कह्यो सुनाय।
कैद छांड़ि देउ तुम राजा की चुप्पे लौट महोबे जाउ।
यह सुन ऊदन बोलने लागे मोती सुनो हमारी बात।
बहिनी ब्याहि देउ जल्दी से तो हम लौट महोबे जांय।
इतनी सुनतै मोती जरिगो तोपन बत्ती दई लगवाय।

आल्हखण्ड के सभी युद्धों के प्रारम्भ में तोपों के दागे जाने का वर्णन प्रक्षिप्त है। दोनों पक्षों की सेनाओं के बीच की दूरी के अनुरूप हथियारों का प्रयोग करते हुये युद्धनियमबद्ध और पूर्व निश्चित तरीके से होता था।

विवाहों में युद्ध एक परम्परा

आल्हखण्ड में विवाह और युद्ध शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची हो गये हैं। उदाहरण के लिये आल्हा का विवाह, ऊदल का विवाह और मलिखान का विवाह का अर्थ है क्रमश: नैनागढ़ की लड़ाई, नरवरगढ़ की लड़ाई और पथरीगढ़ की लड़ाई। विवाह-सम्बन्धों में युद्ध एक परम्परा के रूप में वर्णित है। संयोगिता-स्वयंवर से यद्यपि स्वयंवर की प्राचीन परम्परा प्रचलित होने की पुष्टि होती है, किन्तु कोई भी विवाह बिना खून की नदी बहे सम्पन्न नहीं हो सका। राजा की बेटी के विवाह का टीका युद्ध-संदेश के साथ जाता था। नैनागढ़ के राजा नैपाली तीन लाख का टीका लेकर अपने पुत्र विजया और नेगियों को एक पत्र के साथ भेजते हैं, जिसमें लिखा है—

अमरढोल है मेरे घर में सेना सुनत अमर ह्वइ जात।
कठिन लड़ाई है जोगा की औ भोगा की है तलवार।
जंग जीत कैं बेटी ब्याहै सो मेरे घर करै विवाह।

रूढ़िगत परम्परा एक मजबूरी बन जाती है, न चाहते हुए भी राजाओं को प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए युद्ध में प्रवृत्त होना पड़ता था। टीका के साथ युद्ध-संदेह को स्वीकारना राजपूत राजा अपना गौरव मानते थे। विवाह के सभी कृत्यों में युद्ध एक आवश्यकता मानी जाती थी। लग्न भेजने से लेकर तिलक विवाह हेतु यात्रा, और बारात, अगवानी, तोरण कलश आदि, द्वारचार, जनवासा, कन्या का शृंगार, मँडप, मंगलगीत, गांठ बंधन, गणेश, नवग्रह, कुलदेवता अग्नि, ब्राह्मण आदि के पूजन, शाखोच्चार, कन्यादान भांवरी, ज्योनार दान, दहेज और विदाई आदि विधिवत होती थी, जिसकी पुष्टि तत्कालीन कवि चंद वरदायी के कृत पृथ्वीराजरासो के विवाह-वर्णन से होती है।[21] आल्ह खण्ड के विवाह वर्णन में इन सब कृत्यों का वर्णन नहीं है। वहां तो केवल तलवार का नेग ही प्रमुख बना हुआ है।

युद्ध में तंत्र-मंत्र और जादू

इतिहासकार श्री केशव मिश्र लिखते हैं कि यह तांत्रिकों और अघोर पथियों का युग था। इस सम्प्रदाय का व्यापक प्रभाव जनजीवन पर पड़ा था। तंत्र-मंत्र की शक्ति में लोगों का सर्वाधिक विश्वास था।[22] आल्हखण्ड में वर्णित युद्धों में तान्त्रिकों और जादूगरों के कारनामों का वर्णन बड़े रोचक ढंग से हुआ है। अमर गुरू, गुरु झिलमिला और गोरखनाथ आदि तांत्रिकों का नाम युद्ध घटाओं में शामिल है। अमरगुरू ने आल्हा बहेरह की सदैव सहायता की है। आल्हा का पुत्र इन्दल सिंहलद्वीप की राजकुमारी को पाने के लिये कुछ तांत्रिक वस्तुएँ लेता है:—

बैन मुदरिया को दै दीनो जामें जड़े छतीसों राग।
सोंटा दीनो है इंदल को जासें रणहि होय ना हार।
रतन जड़ाऊ गुदड़ी दीन्हीं जासे भूख लगै न प्यास।
चरण खड़ाऊँ को दै दीन्हीं इसके ऊपर होउ सवार।
जौन देस को करो इरादो पलभर में दैहैं पहुँचाय।

तन्त्र मन्त्र में निपुण अनेक स्त्रियों के जादूगरी कारनामों का वर्णन आल्हखण्ड में हुआ है, जिनमे आल्हा की रानी सुनवां, राजा जम्भे की बेटी विजिमा, पथरीगढ़ की श्यामा भगतिन, नरवरगढ़ की हिरिया मालिन और बुखारे की जीवनि मालिन द्वारा युद्ध-स्थल में किये गये जादुई कौशल विशेष उल्लेखनीय हैं।

नैतिक मान्यतायें और युद्ध के आदर्श

युद्ध-सम्बन्धी कुछ नैतिक मान्यताओं के पालन को श्रेष्ठ योद्धा अपना

कर्त्तव्य समझता था। राजा परमर्दिदेव, युद्ध के लिये जाते हुए आल्हा-ऊदल को, युद्ध के नैतिक नियमों का आदेशात्मक उपदेश देते हैं—

रीति नीति से जो कोउ बर्ते, ताकी कबहुँ होय नहिं हार।
हा हा खाते की ना मारै, ना तिरिया पर डारैं हाथ॥
बालक बूढ़े को ना मारै, ना भागे के परैं पिछार।
पहिली चोट करै कबहूं नहिं, ना निर्बल पर करै प्रहार॥
ताको मारै ना काहू विधि, जाके पास नाहिं हथियार।
पाँव पिछारू को न देवै, ताकी जीति होय सब काल॥

आल्हाखंड में वर्णित युद्ध प्रतिष्ठा और यश-कामना से लड़े गये, उनमें तुच्छ स्वार्थ की भावना का नितांत अभाव है। इसीलिये उत्तराधिकार के लिये कोई युद्ध नहीं हुआ। लौह खम्भ से बँधे आल्हा द्वारा निर्दयता से पिटते हुए ऊदल एक बार बहक तो जाते हैं, किन्तु नैतिक भावना का बन्धन उन्हें रोक लेता है—

सुनतै गुस्सा ह्वइ ऊदनि ने, तुरतै खम्भा लियो उखारि।
सोचन लागे ऊदनि बांकुड़ा, जेठों भाई बाप समान॥
हांथ चलावौं जो आल्हा पर, तौ रजपूती धर्म नसाय।

विपत्ति में भी स्त्रियों से सहायता लेना राजपूत धर्म के विरुद्ध माना जाता था। दूल्हा मलखान को जब गजराजा ने धोखा देकर बन्दी बना लिया और भकसी(खंदक) में डाल दिया तो राजकुमारी गजमोतिन (होने वाली मलिखान की पत्नी) अर्द्ध रात्रि में चोरी से निकल भागने में उसकी सहायता करना चाहती है, किन्तु वीर मलखान उसके प्रस्ताव को दृढ़ता से ठुकराते हुए कहते हैं—

तुम्हरे बल से जो हम निकरैं, रजपूती जाय नसाय।
चोरा चोरी हम ना निकरैं, ना हम करैं चोर को काम॥
क्वांरे भोजन हम ना करिहैं, नहिंरजपूती धर्म नसाय।
जो तुम रानी हमकौं चाहौ, आल्है खबरि देउ पहुँचाय॥

विवाह के पहिले अनैतिक संबंध का आदेश राजपूत धर्म नहीं देता। माड़ों के राजा जम्भे की राजकुमारी विजमा के एकान्त महल में आग्रह करने पर भी कृपाण के धनी ऊदल विवाह के लिये गंगा करके भी विवाह के पहिले सेज पर पैर रखने के लिये किसी प्रकार भी तैयार नहीं होते—

क्वांरे भोजन जो हम जीमैं क्वारे धरैं सेज पै पांव।
हाथ जो डारैं हम तिरियन पर तौ सब क्षत्री धर्म नसाय।

त्याग, बलिदान और वीरता की त्रिवेणी से आप्लावित पवित्र हृदय वाला वीर योद्धा धर्म के लिये मर-मिटना जानता है। युद्ध की सांस्कृतिक चेतना को संजोये आल्ह खण्ड का यह संदेश कितना मार्मिक है—

रण के समुहे से जो भगिहौ बुड़िहै सात साखि को नाम।
मानुष देही यह दुर्लभ है यारो जन्म न बारंबार।
समुहे लड़िकें जो मरिजैहो ह्वै है जुगन जुगन लौ नाम।
जैसे पात टूट तरुवर से गिरकें बहुरि न लागै डार।
जो मरि जैहौ खटिया परिकें कोउ न नाम लिहै संसार।

संदर्भ-संकेत

१. हिन्दू संस्कृति अंक (कल्याण), पृ० १५४।
२. चन्देल और उनका राजत्व काल—श्री केशव चन्द्र मिश्र, पृ० १७७।
३. चंद बरदाई और उनका काव्य—डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी पृ० १२१।
४. बुन्देल खन्ड की संस्कृति और साहित्य—श्री रामचरण हयारण मित्र, पृ० २३७।
५. चन्देल और उनका राजत्व-काल—श्री केशव चन्द्र मिश्र, पृ० २३१।
६. भारत का सैन्य इतिहास—श्री जदुनाथ सरकार (अनु० सुशील कुमार त्रिवेदी), पृ० ५।
७. प्राचीन भारत का इतिहास भूगोल—श्री वि० च० लाहा (अनु० श्री रामकृष्ण द्विवेदी), पृ० ३८१।
८. प्राचीन भारत का इतिहास भूगोल—कनिङ्घम (अनु० श्री जगदीश चन्द्र), पृ० ३३२।
९. भारत का सैन्य इतिहास—श्री जदुनाथ सरकार (अनु० सुशील कुमार त्रिवेदी), पृ० १४।
१०. चन्देल और उनका राजत्वकाल—श्री केशव चन्द्र मिश्र, पृ० १६५।
११. वही, पृ० १६५।
१२. भारत का सैन्य इतिहास—श्री जदुनाथ सरकार (अनु० सुशील कुमार त्रिवेदी), पृ० १४०।
१३. चन्देल और उनका राजत्व-काल—श्री केशव चन्द्र मिश्र, पृ० १६७।
१४. कैम्ब्रिज मिडिवल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ३३१।
१५. प्रबोध चन्द्रोदय, निर्णय सागर प्रेस, ४, पृ० १५७।

१६ चन्देल और उनका राजत्व-काल—श्री केशवचंद मिश्र, पृ० १६५ ।

१७. भारत का सैन्य इतिहास—श्री जदुनाथ सरकार (अनु० सुशील कुमार त्रिवेदी), पृ० ४० ।

१८. वही, पृ० १६५ ।

१९. चन्देल और उनका राजत्व-काल—श्री केशव चन्द्र मिश्र, पृ० १६५ ।

२०. वही, पृ० १६६ ।

२१. चंद बरदाई और उनका काव्य—डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी, पृ० ९५ ।

२२. चन्देल और उनका राजत्व-काल—श्री केशवचन्द्र मिश्र, पृ० १९८ ।

आल्हा-गायकी का एक रूप

—महेश कुमार मिश्र 'मधुकर'

उत्तर भारतीय संगीत की कुछ 'गायकियों' अथवा 'गान-शैलियों' का नाम दतिया नगर के साथ जुड़ा हुआ है। उदाहरणार्थ —दतिया की लेद, दतिया की मल्हार, दतिया का आल्हा इत्यादि। दतिया के साथ इन गान-शैलियों का नाम जुड़ने का कारण यह नहीं है कि ये सभी गान-शैलियां मात्र दतिया में ही जन्मी हैं; बल्कि यह है कि दतिया ने इनका लालन-पालन करके इन्हें भली-भाँति पल्लवित-पुष्पित भी किया है। प्रस्तुत निबन्ध में मात्र दतिया की आल्हा गायकी पर ही विचार किया जा रहा है।

'आल्हा' शब्द का अर्थ बुन्देलखण्डी जनमानस के लिए लोकविदितहै, अतः यह बताना अनावश्यक है कि 'आल्हा' कौन थे और 'आल्हा-गायकी' क्या बला है। सभी जानते हैं कि बुन्देलखण्डी ग्रामीण, प्रायः आल्हा गा-गा कर ही अपनी बरसातें काटते हैं। ग्रामीण पढ़े लिखे हैं, वे आल्हा' की छपी हुई पुस्तकों से, और अपढ़ जन प्रायः लोक प्रचलित आल्हा की साखियो के सहारे, अपना आल्हा गाने का शौक पूरा करते हैं। साथ में, ढोलक-मंजीरा इनके साथ बजता रहता है। उनके इस प्रकार के 'गान' में सिर्फ 'वीर रस' की प्रधानता रहती है और संगीत की दृष्टि से वैविध्य या वैभिन्य का पूर्ण अभाव रहता है। यहसर्वत्र प्रचलित गान-शैली है।

दतिया की आल्हा-गायकी इससे भिन्न है। यहां के 'आल्हागान' के लिए सारंगी, खड़ताल और मृदंग—ये तीन वाद्य-यन्त्र आवश्यक हैं। सारंगी के अभाव में हारमोनियम भी चल जाता है (वर्तमान में प्रायः हारमोनियम ही उपयोग में आ रहा है)।

दतिया में, पुस्तक देख-देख कर आल्हागाना अच्छा नहीं माना जाता। इसलिए गायक 'आल्हा काव्य' को प्रायः कण्ठस्थ ही रखता है। इसी प्रकार, फुटपाथों पर बिकने वाली पुस्तकों में प्रकाशित 'आल्हा' को भी, गाने-वाले प्रायः कम ही उपयोग में लाते हैं। वे प्रायः उस आल्हा-काव्य को कण्ठस्थ करते हैं, जो या तो लोक में 'साखियों, सैरों' के रूप में प्रचलित है, अथवा

फिर जिसे वे आनुवंशिक या परम्परागत रूप में सुनते चले आ रहे हैं। लेखक को ऐसा ज्ञात हुआ है कि परम्परागत रूप में प्राप्त यह 'आल्हा-काव्य', उन्नीसवीं सदी के सुप्रसिद्ध कवि नवलसिंह प्रधान की प्रतिलिपि से प्रारम्भ हुआ था और यह प्रति दतिया के राजकाय पुस्तकागार (कुतबखाने) में सुरक्षित जगनिक रायसे (परमाल-रायसे) की हस्तलिखित प्रतिलिपि थी। ऐसी अनेक प्रतिलिपियां दतिया नगर के कुछ परिवारों में थीं; सम्भवतः आज भी होंगीं, लेकिन उनमें से अधिकतर या तो रद्दी खरीदने वालों और या फिर पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों के 'व्यापारियों' के हाथों मेंसौंपी जा चुकी हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रमाण के लिए किसी हस्तलिखित प्रति को प्रस्तुत कर सकना कठिन है। राजकीय पुस्तकागार के बस्ते भी स्थानीय डिग्री कालेज की लायब्रेरी को सौंपे जा चुके हैं। अतः मात्र कालेज की लायब्रेरी में ही उक्त प्रति के मिलने की सम्भावना की जा सकती है। बहरहाल, वर्तमान में तो केवल दतिया के सुप्रसिद्ध व बयो वृद्ध आल्हागायक गंगोले' को ही उपरोक्त प्रति का एकमात्र पर्यावाची माना जा सकता है, क्योंकि उन्होंने नवलसिंह प्रधान की प्रतिलिपि से ही आल्हा कण्ठस्थ किया था। उन्हें सम्पूर्ण आल्ह-खण्ड तो कण्ठस्थ है ही चन्द्रवरदायी के अधिकांश छन्द भी पर्याप्त मात्रा में मुखाग्र हैं। इसके विषय में हम बाद में चर्चा करेंगे।

दतिया, मलखान की कार्यभूमि रही है। दतिया की पश्चिमी सीमा पर सिंध नदी बहती है। इस नदी से जहां 'महुअर' (प्राचीन मधुमर्ता नदी) का संगम होता है, वहां घूमेश्वर महादेव का विशाल तथा प्राचीन मन्दिर है। इस मन्दिर का पुनर्निमाण महाराज विरसंगदेव (वीरसिंह देव प्रथम) ने करवाया था। इसी मन्दिर के निकट नदी की 'ढीह' पर एक विशाल चबूतरा है जिसे 'मलखान की चौकी' कहते हैं। वहां एक बड़ी 'सांग' भी गड़ी हुई है। इस चबूतरे के निकट, मन्दिर के एक साधु को खुदाई में लोहे की एक 'लगाम' प्राप्त हुई थी। वह लगाम लगभग तीस किलो वजन की बतायी जाती है। अतः यह लोकश्रुति कि 'आल्हा' के समय में लोग दीर्घकाय हुआ करते थे, कुछ कुछ सत्य प्रतीत होती है। क्योंकि तीस किलो भार की लोहे की लगाम वर्तमान युग के घोड़े तो कदापि सहन नहीं कर सकते, इसके लिए घोड़े का विशालकाय और बलवान् होना आवश्यक है। और इतने विशाल घोड़े पर आज के छोटे-नाटे मनुष्य तो सवारी बिलकुल ही नहीं कर सकते। अस्तु, इस उल्लेख का प्रयोजन सिर्फ यह बताना था कि दतिया की भूमि का आल्हा और उनके परिवार से निकट का सम्बन्ध रहा है।

दतिया में आल्हा-गान का प्रारम्भ 'साखी' से होता है। इसके लिए 'पीलू-राग' से मिलते-जुलते 'मल्हार' नाम लोकधुन के स्वर निश्चित हैं। इन स्वरों के आधार पर प्रसंगानुकूल साखी गायी जाती है। लय' प्रायः मध्य-बिलम्बित रहती है, और मृदंग पर ठेका बजाया जाता है, वह—यद्यपि कोई शास्त्रीय ताल नहीं है तथापि—लगभग अठारह मात्रा काल में पूरा होता है। तत्पश्चात् कहरवे की मध्यलय में, तत्सम्बन्धित दो तीन अन्यसाखियां या दोहे कह कर साखी का तोड़' किया जाता है जिसकी एक विशिष्ट धुन तो है ही, उसके साथ ठेका भी मध्यलय का दादरा बजाया जाता है। तत्पश्चात् दादरे की लय में आल्हा की चौपड़ी' शुरू की जाती है। इस चौपड़ी का अन्त भी साखी जैसे 'तोड़' से किया जाता है। इसके बाद यदि आवश्यकता हुई तो चौपड़ी की तर्ज बदल दी जाती है, अन्यथा पूर्ववत् ही रखी जाती है। लड़ाई का प्रसंग आने पर आल्हा कहरवा के ठेके में प्रथम मध्यलय में, तत्पश्चात् द्रुत लय में गाया जाता है। 'तोड़' सभी का एक जैसा है। बीच-बीच में, यदि आवश्यकता हुई तो प्रसंगानुसार 'लावनी' आदि की धुनों का प्रयोग किया जाता है। तात्पर्य यह कि कम से कम चार–छै घण्टे के आल्हा-गान में धुनों और ठेकों की इस प्रकार की विविधता रखी जाती है कि श्रोताओं को 'कथा' के साथ-साथ संगीत का भी पूरा-पूरा आनन्द मिल जाता है।

इस सन्दर्भ में दतिया के सुप्रसिद्ध व वयोवृद्ध आल्हागायक गंगोले (उर्फ गंगाधर श्रीवास्तव) का नामोल्लेख अप्रासंगिक न होगा। यह वयोवृद्ध गायक वर्तमान में लगभग अस्सी वर्ष की वय प्राप्त कर चुका है, तथापि एक बैठक कम से कम छै घंटे तक आल्हा गाने की क्षमता रखता है। गंगोले 'आल्हा' के लिए पूर्ण रूप से समर्पित हैं। यदि उनकी वृद्धावस्था के अभ्यास पर ध्यान न दिया जाये, तो उनकी आल्हा-गायकी में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आने पायी है। उन्होंने अपनी युवावस्था में 'आल्हा' से सम्बन्धित लगभग सभी ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा की है और अपने 'आल्हा गान' से रसिकों को मंत्रमुग्ध किया है। उनके अपने वाद्य-वादक है, जो अपने मुखिया गायक की ही भाँति 'आल्हा' के परम भगत हैं। सम्पूर्ण आल्हाकाव्य को कण्ठस्थ रखने के सन्दर्भ में गंगोले अपने आप में एक उदाहरण जैसे हैं।

गंगोले या गंगाधर श्रीवास्तव के पूर्ववर्ती आल्हा–गायकों में दमरूमहाराज जोधा और रामदयाल इन तीन गायकों का नाम प्रकाश में आया है। इनसे भी पूर्ववर्ती गायकों में हम नवलसिंह प्रधान के नाम उल्लेख कर सकते हैं। हालांकि, इस बात का कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता कि नवलसिंह प्रधान

गाते होंगे; लेकिन चूंकि उन्होंने आल्हा की प्रतिलिपि की थी, और आल्हा-शैली में रामायण-महाभारत को गाथाएँ छन्छोबद्ध की थीं, इससे इस अनुमान की पुष्टि ही अधिक होती है कि वे एक आल्हा गायक भी रहे होंगे। जनश्रुति भी कुछ कुछ ऐसी ही है।

आज आल्हा की जो परिपुष्ट शैली दतिया में प्रचलित है, (विशेषकर गंगोले के द्वारा जो गायी जाती है) उसके विकास का काफी कुछ श्रेय उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के बीच संगीतमय वातावरण को ही दिया जा सकता है, क्योंकि इस काल का वातावरण ही दतिया के सांगीतिक इतिहास का 'स्वर्णयुग' माना जाता है। इससे पूर्ववर्ती गान-शैली के बारे में यह जानकारी मिलती है कि 'आल्हा' के अन्तर्गत केवल 'साखी' चौपड़ी और लड़ाई गायी जाती थी और यह भी सीधे-साधे ढंग से, आज की भाँति कलात्मक या रागात्मक नहीं।

अब हम दतिया की आल्हा-गायकी से सम्बन्धित उन अंगों की स्वरलिपियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जो दतिया में परम्परागत रूप से प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक ऐसी तर्जें हैं, जिनका दतिया में उपयोग किया जाता है। किन्तु विस्तार भय से उन्हें छोड़ दिया गया है। जिन छंदों की तर्जों को उदाहरण बनाया गया है, वे छन्द पहले लिखे जा रहे हैं।

(१) साखी :—आजा भमानी हिंगलाजनी, परजन पर करिये सहाय।
आल मनालऊँ अब जइ भूम पै, रच्छा करिये सारदा माय ॥
मरो मल्हारो सालै नहीं, ना सालै सिरसिला गाँव।
कलगी आंस रई मोय मलखान की, सिर पै दयें है चौड़िया राय ॥

(२) चौपड़ी:—(आल्हा के ब्याह की) मोहिनी तर्ज,
जे दल बादल से रहे हैं छाय;
बाउन राजा अब मेले हैं,
गंगा जी पै मचो घमसान।
रंग विरंगे झण्डा गाड़ें—
राजन की यही है पहिचान ॥

(३) तोड़ :—इतने बारी आल की नार,
अपनी सहेली संगे लयें हैं—
जाकें पौंचीं गंग के घाट ॥

(४) लड़ाई:—(पुरबिया तर्ज)
इतसें झपटो वीर ऊदलसीं, उतसें चामुड़रा बलवान,
भारी जंग मची दोइयन में कटरये वीर हजारन ज्वान।
तेगा तओ चामुन्डराय नें, मन में धर महेस को ध्यान,
ढाल अड़ाई अब ऊदल नें, बचगओ जच्छराज को लाल।

(५) श्रंगारः—(लावनी तर्ज)
बांदी नें रानी की पटियां पारीं,
सेंदुर अबीर सें बीच की मांग संवारी।
महाराज गुंथी चोटी, रेसम न्यारी,
लहर लहर लहराय नागिनी सी मतबारी ॥

उपरोक्त तर्जों की संगति के लिए मृदंग के निम्नांकित ठेके निश्चित है:—

(१) साखी :—धादिंदिं धाऽ तिट कता ऽघ गिन कत् ऽ कत कत ता तिट कता ऽट गिन

(२) चौपड़ी :—तिऽऽधगिन। धा गे ना धा त्र क
(३) लड़ाई :—धिनगधा। धिनागिना
तिनगधा। तिना किना
(४) लावनी :—धातीं धातीं। तक धीं धातीं

(१) साखी

स – – – – –	म रे म प – – –	म – – रे –
आ ऽ ऽऽऽऽ	आ ऽऽ ऽ ऽ ऽ	ऽऽ * * आ ऽ
रे ग स, स स रे	सग रेस नि, स रे रे	म म प म प ऽ
जा ऽ ऽ, भ मा ऽ	नीऽ ऽऽ ऽ, अ ब हिं	ग ला ऽ ज नी ऽ
– – म ग, ग ग	ग रे म ग ग ग	ग ग ग – – रेस,
ऽ ऽऽ ऽ, प र	ज न प र क रि	ये स हा ऽ ऽ य ऽ,
रे – रे ग स, स	स रे स ग रे स	नि –, नि नि स स
आ ऽ ल ऽ ऽ, म	ना ऽ ऽ ऽ ऽ ल	ऊँ ऽ, अ ब ज इ

रे रेगगस–	– –प, पपम	मगगरे रेस
भू ऽमपै ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ, रच्छाऽ	करि ये ऽ सा ऽ
रे ग गस नि़–	स – – – – स	– – रे रे म ग
ऽ ऽ र दा ऽ ऽ	मा ऽ ऽ ऽ ऽ य	* * म री ऽ म
मपम प – –	मग॒, ग॒ –ग॒ रे	गग॒ – – – –
ल्हा ऽ ऽ री ऽ ऽ	ऽ ऽ, सा ऽ लै ऽ	नहीं ऽ * * *
– – ग॒ – ग॒ –	ग॒ रेम म ग॒ ग॒	– – ग – – –
* * ना ऽ सा ऽ	लै ऽ सि र सि ला	ऽ ऽ गां ऽ ऽ ऽ
–रेंस ग ग ग रे	ससरे रे स नि़	– – नि़नि़ स स
ऽ व ऽ, क ल गो ऽ	आँ ऽस रई ऽ	ऽ ऽ मो ये म ल
रे रे ग ग स –	– –ससंसंनि॒	थ प म ग स –
रक ऽ न की ऽ ऽ	ऽ ऽ, स र पै ऽ	द यें हैं ऽ चौ ऽ
रे ग ग स नि़ –	स – – – – स	
ऽ ऽ ड़ि या ऽ ऽ	री ऽ ऽ ऽ ऽ य	

(२) आल्हा की चौपड़ी (दादरा) मोहनी तर्ज

– – प – पध	ग – म ग म –	ग॒ ग॒ रे स –रे	मग॒ - - - रे
– – जे ऽ द ल	वा ऽ द ल से ऽ	र हे ऽ हें ऽ ऽ	छा ऽ ऽ ऽ ऽ य
×	×	×	×
सरेरे – रे रे	रे–स रे ग॒ –	– – रे स स रे	नि़ - - स - -
* * वा ऽ उ न	रा ऽ ऽ जा ऽ ऽ	ऽ ऽ अ व मे ऽ	ले ऽ ऽ हे़ ऽ ऽ
प – – प – –	ग - म ग ग :–	ग ग॒ रे स स रे	म ग॒ - - - रे
ऽ ऽ ऽ गं ऽ ऽ	गा ऽ जी ऽ गै ऽ	म चो ऽ घ म ऽ	सा ऽ ऽ ऽ ऽ न
स रे रे – रे रे	रे – स रे ग॒ –	– – रे स स रे	नि़ - - स - -
* * रं ऽ ग वि	रं ऽ गे ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ झं ऽ डा ऽ	गा ऽ ऽ ढ़ें ऽ ऽ
प - नि॒ धपध	ग ग म ग म -	ग॒ ग॒ रे स स रे	म ग॒ - - - - रे
हां ऽ ऽ रा ऽ ऽ	ज न की ऽ य ऽ	ही ऽ ऽ प हि ऽ	चा ऽ ऽ ऽ ऽ न

(३) चौपड़ी का तोड़

– – नि़ नि़ स –	रे – ग – म –	प प - प - ध	पसं नि॒ धपध
– – इ त ने ऽ	वा ऽ री ऽ आ ऽ	ऽ ल ऽ की ऽ ऽ	ना ऽ ऽ ऽ ऽ र
×	×	×	×
ग ग ग – ग ग	ग - रे नि़ - -	- – नि स –	रे रे ग ग स -
अ प नी ऽ रा ऽ	हे ऽ ऽ ली ऽ ऽ	ऽ ऽ सां ऽ गै ऽ	ल यें ऽ है ऽ ऽ
×	×	×	×
स - सं - सं नि॒	ध प म ग स -	रे ग ग स नि़ -	स - - - - स
ऽ ऽ जा ऽ कें ऽ	पीं ऽ ची ऽ हैं ऽ	गं ऽ ग के ऽ ऽ	घा ऽ ऽ ऽ ऽ ट
×	×	×	×

(४) चौपड़ी की पुरबिया तर्ज (वहरवा)

×	×	×	०
स़ स स –	म म म रे	प म म म	म म म –
इ त सें ऽ	झ प टौ ऽ	वी ऽ र ऊ	द ल सीं ऽ
रे म म –	प म म म	प म म म	म – , म प
उ त सें ऽ	चा ऽ मु ड़	रा ऽ व ल	वा न , अ रे
प सं सं -	नि॒ ध प प	प ध ध प	मम ग रेरे सस
भा ऽ री ऽ	जं ऽ ग म	ची ऽ दो इ	यन में कट रये
ग – ग म	ग रे रे स	स – – –	– – , रे ग
वी ऽ र ह	जा ऽ र न	ज्वा ऽ ऽ ऽ	ऽ न , अ रे
म – म –	म – म ग	प म म म	म - मम म -
ते ऽ गा ऽ	द औ चा ऽ	मुं ड़ रा ऽ	नें ऽ मन में
रे म म म	प म म –	प म म –	प म म प
ध र म हे	ऽ स की ऽ	ध्या ऽ ऽ ऽ	न ऽ, अ रे
प सं सं सं	नि॒ ध प –	प ध ध प	मम ग रे स
ढा ऽ ल अ	ड़ा ऽ ई ऽ	अ व ऊ ऽ	दल ने बच गओ
ग – ग म	ग रे रे स	स – – –	– स – –
ज ऽ च्छ रा	ऽज की ऽ	ला ऽ ऽ ऽ	ऽ ल * *
×	×	×	×

(१) लावनी

×	०	×	०
प – प –	प – ध प	म ग रे स	स रे ग म
बाँ ऽ दी ऽ	ने ऽ रा ऽ	नी ऽ की ऽ	पटि याँ ऽ
ग रे स –	– – स प	प प प प	प प ध प
पा ऽ री ऽ	ऽ ऽ सें ऽ	दु र अ बी	ऽ र सें ऽ
म ग रे स	स रे ग म	ग रे स –	– – प ध
बी ऽ च की	मां ऽ ग सं	वा ऽ री ऽ	ऽ ऽ म हा
सं – सं सं	सं रें संरें गं	सं रें सं नि	ध म प ध
रा ऽ ज गूं	थी ऽ चोंऽ ऽ	टी ऽ ऽ ऽ	रे ऽ स म
नि सं प –	– – – –	स प प प	प ध प ध
वा ऽ री ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ल ह र ल	ह र ल ह
म प म म	ग ग ग म	प ध प म	ग ग रे रे
रा ऽ य ना	ऽ गि नी ऽ	जै ऽ सी ऽ	म त वा ऽ
स – – –	– –,		
री ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ,		

दतिया में इसी प्रकार की आल्ह-गायकी* का सूत्रपात किस काल में हुआ, उसे पुष्ट-प्रमाणों के अभाव में बता सकना मुश्किल है। तथापि, जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, दतिया का 'मलखान की चौकी' का निकटवर्ती होना और स्थानीय जन-मानस में लोकनायक आल्हा के प्रति श्रद्धा-प्रेम होना ही इस सूत्रपात का मूल हो सकता है। दतिया का एक प्राचीन नगर होना और उस नगर में संगीत की दीर्घ कालिक परम्परा का जीवित रहना भी इसका कारण हो सकता है। कोई आश्चर्य नहीं जो दतिया की सुसम्पन्न सांगीतिक परम्परा ने ही यहाँ के आल्हा-गायकों को एक नवीन तथा भिन्न प्रकार की आल्हा-गायकी को जन्म देने के लिए प्रेरित कर दिया हो। जो भी हो, इस गान शैली का इतिहास एक स्वतन्त्र शोध का विषय है। संक्षेप में, सिर्फ यही कह सकते हैं कि गंगोले के बाद इस गायकी का सिर्फ नाम ही शेष रह जायेगा।

---

* इस आल्हा गायकी का प्रचलित वर्तमान स्वरूप बहुत कुछ श्री गंगाधर श्रीवास्तव 'गंगोले' की अथक साधना के कारण परिपुष्ट हुआ है। इन्होंने आल्हा-गान की प्रेरणा दमरू महाराज और नंदकिशोर राजगुरु से प्राप्त की थी।

आल्हा की साखियां

—गोविन्द प्रसाद वर्मा

वीर प्रसवनी भूमि बुन्देलखंड में वीर काव्य "आल्हा" को लोकगीतों के अन्तर्गत एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है, इस जनपद के किसी भाग में इसे 'आल्हा' किसी अन्य भाग में 'सैरो' नाम से पुकारा जाता है। इस गीत का गायन अधिकतर बनाफरी शैली में होता है। आल्हा-गायन का समय तथा मौसम वर्षारंभ की काली घटाओं से आच्छादित रात्रि है, जब पावस के उमेंड़े-ऐंड़े-बैंड़े झला अपनी कला दिखा रहे होते हैं। गाँव की चौपाल में सार्वजनिक रूप से आल्हा का आयोजन किया जाता है तथा इस ओजपूर्ण गीत को सुनने के लिये बाल, युवा, वृद्ध सभी समूहों में एकत्र होकर उमड़ पड़ते हैं। श्रोता-मण्डली के मध्य गायक ऊँचे स्थान पर आसीन होता है तथा उसका सहयोगी ढोलक-वादक ठीक सामने आसन जमाता है और ढोलक की थाप से गीत का समाँ बांधता है।

बुन्देलखंड का ग्रामीण अंचल बरसात में वीररस पूर्ण 'आल्हा' गीत से अहलादित हो उठता है, एक प्रकार की मस्ती छा जाती है एवं जनजीवन में उल्लास भर जाता है। जनपद की लड़ाकू जातियों (बुन्देले, चन्देल, चौहान, परमार, बनाफरी, दांगी, लोधी आदि) के युवक अपने-अपने पूर्वजों के बलपौरुष का बखान सुनकर मूछों पर ताव और जंघाओं पर ताल देने लग जाते हैं। आल्हा राजारंक सभी को प्रिय लगता है और सभी तन्मयता से सुनते हैं।

भूतपूर्व बिजावर राज्य के स्वर्गीय नरेश महाराज सावन्त सिंह जू देव एक वीर और स्वाभिमानी क्षत्रिय थे। उनमें सभी नरेशोचित गुण विद्यमान थे एवं वह गीता के महाकाव्य "नरानांचे नराधिपः" को भली भांति सार्थक करते थे। उनकी रुचि "आल्हा" गीत में अधिक थी—और वह बनाफर बंधुओं (आल्हा ऊदल) की वीरता के प्रशंसक थे, पोषक थे। अपने शासन-काल में प्रतिवर्ष "आल्हा" गीत वह नियमित रूप से एक पखवारे तक सुना करते थे, आम जनता भी इसका लाभ किले के भीतर बैठकर लिया करती थी। गायक होता था मोती मेहतर, स्वर्गीय महराज के आखेट-दल का एक

सदस्य, जो १५ दिन तक किले से पक्की लाग (पूड़ी, साग, मिठाई का भोजन) का बंधेज पाता था और अन्त में एक सिरोपा (साफा, पाजाम, कोट) भी पारितोषक-विदाई में उसे दिया जाता था। राज्य के इस सम्मान का लाभ मोती के सहवादक को भी मिलता था। आल्हा गायक को ऐसा प्रश्रय मिलते लेखक ने स्वयं देखा है और सामन्ती युग में ललित कलाओं के संरक्षण एवं कलाकारों के सम्मान का स्वरूप कैसा था वह भी अनुभव किया है। दूसरे रूप में ललित-कलाओं को जीवित रखने तथा विकसित करने की प्रतिस्पर्धा राज्यों मे प्रचलित थी एवं इनमें निहित रहता था गरीबों की पालना का मुख्य उद्देश्य।

'आल्हा' में साखियों का समावेश किया जाता है यद्यपि मूल कथानक से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। ये एक प्रकार के मुक्तक छन्द होते हैं तथा अतुकान्त भी। इनकी रचना गायक यथास्थान उन्हें फिट करने के लिये तत्काल कर लेता है अथवा पूर्व रचित साखियों का तालमेल प्रस्तुत कथानक से बैठाकर गाता है। यह सभी उसकी चतुरता पर निर्भर करता है, मुख्यतया 'साखियों' का प्रयोग कथानक की भूमिका तैयार करने या गायकी का ठाठ जमाने में किया जाता है। साखियों में नीति, ज्ञान और धर्म के उपदेश अवश्य निहित रहते हैं, जो जनता पर अच्छा प्रभाव डालते हैं। स्वर, ताल एवं लय का समन्वय अति आवश्यक है।

अच्छा, तो आइये, गाँव की चौपाल मे चलकर 'आल्हा' की साखियों का आनन्द लें तथा साखियों के माध्यम से काव्य का रसास्वादन करें। गायक, पहिली साखी के द्वारा मौसम की अनुकूलता बतलाते हुये गायकी का ठाठ जमाता है —

सावन सुहावनी रे मुरली लगे, भईया भदवाँ सुहावनी मोर।
तिरिया सुहावनी रे जबई लगे, ललना खेले पोर के दोर॥

आगे की अन्य साखियों में मानव-जीवन की असारता पर बल देते हुये, सूरमाओं को अपना कर्त्तव्य निभाने को उत्तेजित करता है—

सदां तुरैया रे फूले ना, यारो सदां ना सावन होय।
सदां सूरमा ना रन पै चढ़े, यारो जो दिन सदां न पावै कोय।
नौन हरामी रे चाकर मरै, यारो मरै बैल गरयार।
चढ़ी अनी पै जो कोऊ बिचलै, ती की मरै गरभ सैं नार॥

ग्राम जीवन में बुराइयों का पनपना तथा उनके निराकरण हेतु चेतावनी देने का काम भी साखियाँ करती हैं—

खेत बिगारे देखो कूरा-कांस नैं, उर चुगली नैं बिगारे गाँव।
ज्वान बिगरे रे मिहरन नैं, जिन खो दओ पुरखन को नाँव॥
रूख चढैया रे जलदी मरै, यारो नदिया को पैरन हार।
पर नारी को रे भोगईया, इनकी मौत सीस मड़राय॥

अशोक वाटिका में शोक मग्न माता जानकी की करुणामयी मूर्ति का चित्रण और भी सुन्दर बन पड़ा है—

पतरी उँगरियाँ माता सीता की,जिनके निर्बल हो रये सरीर।
बैठीं बिसूरें गढ़ लंका मैं, मोरी सुध काये न लई रघुवीर॥

कहा जाता है कि आल्हा-ऊदल बनाफर बन्धुओं ने विभिन्न लड़ाइयाँ लड़ी हैं, जिनमें विजयश्री उन्हीं के हाथ रहीं। इन्हीं लड़ाइयों के कथानकों पर "आल्हा" काव्य आधारित है। कथानकों में आल्हा, ऊदल, लाखन, मलखान, ब्राह्मा, तालन सैयद आदि सूरवीरों की वीरता का बखान किया जाता है, जिसका श्रेय चन्देलाश्रित कवि जगनिक भट्ट को है जो स्वयं एक वीर योद्धा के नाते प्रत्यक्षदर्शी था, विश्वसनीय था। उरई की लड़ाई को प्रस्थित होते समय की लाखन और उनकी नवविवाहिता रानी के संवाद की चन्द साखियाँ यहाँ दी जा रही हैं' जो अपने ढंग की अनूठी हैं।

श्रृंगार और वीर रसों का यह वाक्य-युद्ध रानी-राजा के माध्यम से होता है। अनेक दांव-पैंचों के प्रयोगों के पश्चात अन्त में श्रृंगार को अपनी पराजय माननी पड़ती है तथा वीर विजयोल्लास के साथ अपना कर्त्तव्य पूरा करता है। रानी बहादुर पति लाखन के सामने हार मानती हुई, उन्हें रोकने को दूसरा उपाय सोचती है। वह भोजन के पश्चात प्रस्थान करने का प्रस्ताव रखती हुई, कहती है—

"चांवर चकोटन मैंने धंकै धरे, अरु घी मोकै कमक उर दार।
घरियक बिलमोरे मोरे कन्ता, तुम्हारी धनियाँ तपै जेवनार॥

लाखन को पकवानों की क्षुधा कहाँ? उस वीर को तो पूर्व ही रण-निमंत्रण मिल चुका है और वह शत्रुओं से लोहा लेने को उतावला हो रहा है। उसकी क्षुधा– तृप्ति तो शत्रु-संहार से ही होना है, भौतिक व्यंजनो से नही, अस्तु वह उत्तर देता है —

"चाँवर चिरंईयन कों चुनवा देव, बाम्हनें दे देव कनक घीऊ दार।
मोरो पनवारो, प्यारी उरहँई परो, परसा ठांड़ो घोड़िया राय॥'
बैठी रइयो री सतखंडन, सुख सें खइयो डबन के पान।
जीत जंगरियाँ जब घर लोटे हों, तुमरी मोतिन सैं भरा देंव मांग॥

रानी तत्काल उत्तर देती है जिसमें विरह की व्याकुलता, पतिपरायणता एवं नारी के लिये पति ही सर्वस्व है, इस सदसंकल्प की उत्कृष्टता प्रकट होती है। मानस की यह अर्धाली "जिमबिन देह, नदी बिन बारी· तैसहि नाथ पुरूष बिन नारी" रानी के शब्दों में प्रतिध्वनित होती है। वह तिलमिला उठी, बोली—

"जबरन जाबे तोरे सतरखंडा, इन पानन पै परे तुषार।
तोरे अकेले इक जियरा बिन, मोकों सूनो लगे सिंसार।"

वह प्रकृति का भी सहारा लाखन को रोकने में लेती है और उमड़ती आती काली घटा से प्रार्थना करती हैं कि मेरे कन्त को रोकने में सहायक हो—

"कारी बदरिया री तोहि सुमरों, पुरवई परों तिहारे पाँय।
आज तो वरस जाई कनबज पै, मोरे कन्ता घरै रहि जाँय॥

इस प्रकार प्रतीत होता है कि "आल्हा" की साखियाँ कथानक के साथ परम्परागत रीति से जुड़ी नहीं हैं, वरन् उनका अवतरण देश, काल एवं समय के अनुसार गायकों द्वारा ही होता रहता है, जिनका उपयोग वह गायकी तथा कथानक की भूमिका तैयारी में करते है।"आल्हा गीत" के शेष पद्यांश जैसे सम्बन्धी राजा का ऐश्वर्य-पराक्रम-वर्णन उसकी सेना संगठन तथा शौर्य-प्रदर्शन वीरों का अन्तिम स्वांस तक शत्रु से लोहा लेने की दृढ प्रतिज्ञा आदि तो स्थायी स्तम्भ होते हैं और वह प्रायः सभी लड़ाइयों में समान से पाये जाते हैं, केवल मूल कथानक और उसके पात्र ही बदले जाते हैं।

"आल्हा" गायन से अकर्मण्यता, उदासीनता तथा आलस्य तिरोहित होकर साहस, शक्ति, सक्रिय संगठन का संचार होता है। जनपद में जाग्रति की लहर दौड़ जाती है जो राष्ट्र को शक्ति शाली बनाता है लोकगीतों मे "आल्हा की साखियाँ" नागरिकों को पुरूषार्थी बनाने मे अपनी प्रमुख भूमिका निभाती हैं।

वर्णन खण्ड

It is a noble story, replete with incident, and with characters well contrasted, It appeals for more closely to English sympathies than do the comparatively artfiicial epics of Sanskrit Literature.

G. A. Grierson

[टीप–डॉ० ग्रियर्सन के इस कथन में संस्कृत के महाकाव्यों के प्रति दुर्भाव का प्रश्न नहीं है, वरन् आल्हखण्ड की प्रभावी अपील का समर्थन है ।]

आल्हा की विविध वर्णनाएं

सम्पादन एवं टिप्पणी: डा० नर्मदा प्रसाद गुप्त

जगनिक का लोकमहाकाव्य 'आल्हाखंड' किस रूप में था, यह खोज का विषय है। विद्वानों के विभिन्न अनुमान हैं, परन्तु इसी जनपद के बुन्देली में रचित प्राचीन ग्रंथों—परमाल रासो, आल्ह राइछो, दलपतराय रायसो आदि से सिद्ध है कि आल्हखंड लोककाव्यात्मक शैली का लोक प्रबन्ध था। परमाल-रासो में जगनिक कवि का बार-बार उल्लेख इसका साक्षी है कि रचनाकार पर उस प्रबन्ध का बहुत अधिक प्रभाव रहा है। आल्ह राइछो की शैली लोक-काव्यात्मक है और दलपतराय रायसो (१७०७ ई०) में तो भाट जगनक्क (जगनिक) का सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया है। इससे सिद्ध है कि आल्ह-खंड एक प्रबन्ध के रूप में रचा गया था, लेकिन उसकी शैली लोककाव्यात्मक थी। परमाल रासो और दलपतराय रासो दोनों के रचनाकार अपने ग्रन्थों में कवि चन्द और जगनिक दोनों का उल्लेख और स्मरण करते हैं, जिससे स्पष्ट है कि मध्ययुग में वीरप्रबन्धों की दो भिन्न धाराएँ प्रवाहित थीं—एक शास्त्रीय प्रबन्ध की, जिसका श्रेय चँद को था और दूसरी स्वच्छन्द लोकशैली के प्रबन्ध की, जिसके जनक जगनिक थे। अतएव यह निश्चित सा है कि आल्हखंड लोकशैली का वीर प्रबन्ध ही था। दूसरे वह बुन्देली लोकभाषा एवं आल्ह छन्द में लिखा गया था, वरना आल्हा छन्द की इतनी लोकप्रियता और इतना अधिक प्रसार न होता।

उद्भव और विकास

प्रारम्भ में आल्हखंड की लोकप्रियता के कारण उसके विभिन्न प्रसंगों को अलग-अलग गाने का प्रयत्न हुआ होगा, फिर उन प्रसंगों का विकास हर कालावधि में क्रमश: होता गया। पहले बुन्देली के विशाल क्षेत्र में ही विभिन्न भाषा-रूपों में उसकी वर्णनाएं प्रचलित हुईं, बाद में धीरे-धीरे उत्तर भारत की हर लोक भाषा में उसने अपना एक अलग रूप ग्रहण कर लिया। विकसनशीलता की हर स्थिति में उसकी वस्तु, भाषा आदि में परिवर्तन और परिवर्द्धन की प्रक्रिया चलती रही। हर क्षेत्र की संस्कृति के अनुरूप उसमें कुछ नाम,

स्थान, रँग, संस्कारादि जुड़ते गये। इस प्रकार वर्णनाओं के उद्भव और विकास की एक सहज प्रक्रिया निरंतर गतिशील रही।

विविधता के क्षेत्र

बुन्देली क्षेत्र में अनेक वर्णनाओं का प्रसार दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिये महोबा, सागर, दतिया आदि की वर्णनाएँ बहुत कुछ भाषा रूप के कारण और बहुत कुछ क्षेत्रीय रंग और गायकी की भिन्नता के आधार पर भिन्न हो गई हैं। बुन्देली जनपद के अलावा 'आल्हा' की लोकप्रियता मैथिली महगी, भोजपुरी, अवधी, बघेली, कनउजी, ब्रजी, कौरवी आदि जनपदों में इतनी अधिक है कि वह उस जनपद के लोकजीवन एवं लोक सहित्य की पहचान का एक अंग बन गया है। कन्नौज और बाराबंकी में तो 'आल्हा' की शोध से सम्बोधित संस्थाएँ हैं, जो प्रतियोगिता, सेमिनार एवं उत्सवों का आयोजन करती हैं। लोकभाषाओं के शीर्षस्थ विद्वानों ने अपने जनपदों के 'आल्हा' को श्रेष्ठ स्थान का अधिकारी बताया है। डा० सत्येन्द्र ने लिखा है कि व्रज में ढोला के बाद लोकप्रियता की दृष्टि से आल्हा का स्थान है। डा० सत्यव्रत सिन्हा का कथन है कि भोजपुरी वीर कथात्मक लोक गाथाओं में आल्हा का स्थान प्रमुख है। डा० सन्त राम अनिल का मत है कि कनौजी में जितने भी पँवारे उपलब्ध होते हैं, उनमें प्रचार, व्यापकता और लोकप्रियता की दृष्टियों से आल्हा का स्थान सर्वोपरि है। शायद इसीलिये डा० कृष्णादेव उपाध्याय ने सभी वीरगाथाओं से 'आल्हा' को श्रेष्ट माना है। मतलब यह है कि हर जनपद में आल्हा का प्रचलन और लोकप्रियता स्वयं सिद्ध है।

रूप भेदों की पहचान

एक ही वर्णन में रूपभिन्नता मिलती है, जो दो प्रकार की है। भाषा के थोड़े से परिवर्तन के कारण वर्णना उतने रूपों में पाई जाती में, जितने में लोकभाषा विभाजित की जा सकती है। उदाहरण के लिए पूर्वी और पश्चिमी भोजपुरी की वर्णनाओं में भाषागत भिन्नता स्वाभाविक है। दूसरे प्रकार का रूपभेद कम से कम तीन प्रकार का होगा–(१) लोकमुख में जीवित, जिसका कोई लिखित रूप नहीं है और जो प्राचीन काल से परमपरित दाय के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चली आती है। (२) अल्हैतों की वर्णन, जो हर अल्हैत के द्वारा कुछ न कुछ बदली और बढ़ाई जाती है। (३) रचनाकार द्वारा रचित आल्हा, जो लोक ने अपना लिया हो। इन सभी रूपों को आसानी से परखा जा सकता है। अन्त की तीनों वर्णनाएँ भी लोकभाषा की उपबोलियों में कुछ भिन्न हो जएँगी।

तुलनात्मक अनुशीलन

आल्हा की विभिन्न वर्णनाओं की तुलना करने से उनके वस्तुगत और शैलीगत अन्तर का परीक्षण किया जा सकता है और उसके आधार पर कुछ महत्वपूर्ण एवं उपयोगी निष्कर्ष निकल सकते हैं। एक ही तरह की वस्तु के प्रतिपादन में हर जनपद और उसकी लोकभाषा की विशिष्ट प्रवृत्ति क्या है और लोक सहित्य की शैली में क्या विशेषता है, इसकी सही पहचान तो कम से कम प्रकाश में आ सकती है। मेरी समझ में तटस्थ रूप में परखने पर हर बोली और उसके साहित्य की वह विशिष्टता, जो दूसरी में नहीं है अथवा अपेक्षाकृत न्यून या अधिक है, खोजी जा सकती है। ऐसे और भी परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। डा० सत्यव्रत सिन्हा ने आल्हा के व्याह प्रसंग को लेकर बैसवारी और भोजपुरी रूपों की तुलना की है और दोनों की वस्तु में समानता तथा अन्तर को स्पष्ट करते हुए कुछ निर्णय लिये हैं। यद्यपि सिन्हा जी ने केवल वस्तु के आकार-प्रकार को ही देखा है और दूसरी सूक्ष्मताओं पर उनकी निगाह नहीं गयी है, तथापि इस प्रकार के प्रयत्नों से निश्चित ही मूल्यवान तथ्य सामने आ सकेंगे।

गायकी का अन्तर

हर जनपद की आल्हा-गायकी में समानता और भिन्नता की दोनों स्थितियाँ संभव हैं। यहाँ तक कि एक ही जनपद के एक क्षेत्र की गायकी दूसरे से कुछ या अधिक भिन्न हो सकती हैं। हर क्षेत्र की गायकी के परिचय, स्वरलिपि के अध्ययन और दूसरे क्षेत्र की गायकी से तुलना के द्वारा क्षेत्रीय लोकसंगीत के वैशिष्ट्य का परिज्ञान किया जा सकता है। अभी उज्जैन के श्री प्यारे लाल श्रीमाल ने मालवी के लोकसंगीत पर शोधकार्य किया है, अगर इसी तरह का कार्य हर जनपद में होने के बाद तुलनात्मक रूप भी सामने आये, तो बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। खास तौर से एक ही वस्तु का निर्वाह करने वाले लोकगीत या लोकगाथा की गायकी का।

मूल पाठ का निर्धारण

विभिन्न वर्णनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से 'आल्हा' के मूल रूप या उसके निकट के पाठ को निर्धारित किया जा सकता है। उसके परिवर्तित या परिवद्धित अंशों अथवा प्रक्षिप्त प्रसंगों को अलग रखकर सही पाठ के प्रकाशन से अनेक भ्रमों का निवारण अपने आप हो जायेगा और उसके तत्कालीन इतिहास, संस्कृति आदि का भी स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा। आल्हा के एक प्रसंग 'आल्हा-मनोआ' की विविध वर्णनाओं को संकलित कर उसके पाठ-

निर्धारण का प्रयत्न इस कार्य का अभीष्ट अंग था, पर कुछ बाधाओं के कारण पूरा नहीं हो सका।

प्रस्तुत वर्णनाएँ

यहाँ पर बुन्देली की कुछ वर्णनाओं के साथ अन्य लोकभाषाओं की कुछ वर्णनाएँ दी जा रही हैं। संक्षिप्त टिप्पणियाँ भी। केवल इस उद्देश्य से कि पूरा चित्र खड़ा न हो सके, तो कम से कम कुछ ऐसी रेखाएँ उभरें जो चित्र का आभास दे सकें और विद्वानों को आकर्षित करने में समर्थ हों। इनमें कुछ प्रकाशित-अप्रकाशित रूप लिये गए हैं। इस आशा और संभावित के साथ कि भविष्य में सही चित्र अवश्य लिखा जा सकेगा, भले ही महाकवि बिहारी यह कहें कि 'भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।'

बुन्देली

बुन्देली जनपद के अंतर्गत इक्कीस-बाईस जिलों का बहुत बड़ा क्षेत्र है। इस लोकभाषा की उपबोलियाँ भी कई हैं। पँवारी, लोधान्ती या राठौरी, खटोला, बनाफरी, कुंड्री, निभट्टा, भदावरी आदि सभी बुन्देली की शाखाएं हैं। साथ ही इस भाषा के मानक रूप के क्षेत्र में भी झांसी-ओरछा, सागर, हमीरपुर, होशंगाबाद कम से कम चार-पांच ऐसे टुकड़े किए जा सकते हैं; जिनमें भाषारूप का थोड़ा-बहुत अन्तर है। इस तरह बुन्देली में भी 'आल्हा' की कई वर्णनाएं मिलना असंभव नहीं है। इसके अलावा लोकप्रचलित अल्हैतों की पेशेवर और रचनाकारों की वैयक्तिक वर्णनाएँ भी हैं। इस संकलन में आज से सत्तर-अस्सी वर्ष पूर्व प्रसिद्ध इतिहासकार वी० स्मिथ द्वारा ली गयी बनाफरी की वर्णना, सागर क्षेत्र में प्रचलित स्व० लोकनाथ शिलाकारी द्वारा संकलित वर्णना एवं प्रसिद्ध अल्हैत स्व० शिवराम सिंह द्वारा गायी जाने वाली वर्णना को स्थान दिया गया है। प्रसिद्ध रचनाकारों-शिवू दा, देशराज भट्ट आदि के आल्हा को अलग दूसरे खंड में उद्धृत किया गया है, क्योंकि उनके काव्य लोकप्रिय होते हुए भी अभी पूरी तरह लोक द्वारा अपनाए नहीं गए।

यह क्षेत्र तो आल्हा का गढ़ है। इसी केन्द्र से सभी दिशाओं में उसका प्रसार हुआ है। यहाँ के गाँव-गाँव में, मुहल्लों की खास-खास दुगई में वर्षा होने के साथ 'आल्हा' का गायन शुरू हो जाता है। कुछ क्षेत्रों में यह लोक विश्वास आज भी है कि आल्हा गाने से वर्षा होती है, पर अन्य में अकसर यह कहा जाता है कि आल्हा का मजा (आनन्द) तभी है, जब पानी की झड़ी लगी हो। वैसे तो आज भी किसी खास मौसम की प्रतीक्षा नहीं की जाती और किसी भी उत्सव या अवसर पर उसका आयोजन किया जाता है। कभी-कभी आल्हा की प्रतियोगिता भी होती है जो दो तरह से सम्पन्न की जाती

। है अगर चार-पाँच प्रमुख अल्हैत होते हैं, तो एक या दो रात हरेक को निश्चित कर दी जाती है अथवा केवल एक या दो रात में प्रतियोगिता पूरी होना हो, तो हर गायक को निर्धारित समय पर अपना गायन पूरा करना पड़ता है।

बुन्देलखंड में 'आल्हा' को सैरा कहा जाता है। सैरा शब्द कहाँ से आया है, यह खोज का विषय है। शब्दकोश में सैर का लाक्षणिक अर्थ मनोरंजन के लिए किसी पुस्तक का पढ़ना है, शायद पढ़ने और फिर गाने के अर्थ में सैर से सैरा हो गया हो। प्राचीन काल में 'आल्हा' के एक प्रसंग या लड़ाई को पंवारा या पँवारो (पँवाड़ा), समो या समय, मार (लड़ाई) कहा जाता था, पर अब ऐसा प्रचलन नहीं है। इस क्षेत्र में पँवारे का अर्थ लम्बी कथा से लिया जाता है। मुहावरा है – 'का पँवारो गाउत' अर्थात् बहुत लम्बा वर्णन करते हो। अब तो आलहा का भी मुहावरे में प्रयोग हो गया है–'का आल्हा गाउत'। इसी तरह समय या समो का अर्थ व्याख्यान भी दिया गया है और अमरकोष में संविद या ज्ञान भी। पृथ्वीराज रासो के रचयिता ने संभवतः व्याख्यान के अथवा काल के अर्थ में (जैसे अकबर-काल, ऐतिहासिक काल-सीमा के रूप में) प्रयुक्त किया हो। महोबा रासो के रचयिता ने अपने ग्रन्थ का नाम 'महोबा समय, ही दिया था और उसमें अनेक प्रसंगों की योजना की थी।

गायकी की दृष्टि से भी बुन्देली क्षेत्र में विविधता मिलती है। महोबा आलहा-गायकी सर्वाधिक ओजस्विनी है। गायक का जोशीला स्वर असाधारण प्रभाव क्षमता रखता है। कहा जाता है कि प्रसिद्ध अल्हैत स्व० शिवराम सिंह के आलहा–गायन के दौरान उससे प्रभावित होकर एक बार एक व्यक्ति ने अपने शत्रु को गोली मार दी थी। बहरहाल, गायक के स्वर से अंग-अंग फड़क उठता है। इस गायकी में स्वर प्रधान है, ढोलक और मंजीरा केवल सहायक। गायक पहले मध्य लय में, फिर द्रुत में गाता है और उसी के अनुरूप ढोलक पर थापें पड़ती हैं। द्रुत के बाद अधिकतर वह बिना ढोलक और मंजीरा के कवितानुमा गाता है, बीच–बीच में ढोलक की थाप उसे लय देती है। फिर मध्य लय में आकर धीरे-धीरे स्वर आरोह पर पहुँचता है और अन्त में द्रुत की चरमसीमा पर एक विराम सा पलभर के लिए आता है। इस तरह एक चक्र पूरा होता है। इसी क्रम से वह लम्बे समय तक श्रोताओं को बांधे रखता है। सागर की गायकी में उतना जोश और ओज नहीं है। गायक के स्वर में उतना आरोह नहीं है और न लय में उतनी द्रुति, लेकिन वह मध्य लय के आस पास गाता हुआ संगीतात्मक अधिक है। पुछी करगवाँ की गायकी में भी सागर के समान मध्य लय अधिक प्रयुक्त होती है. लेकिन उसमें लोच और मधुरता अधिक है। दतिया तक पहुँचकर आलहा-गायकी

संगीतात्मक हो गई है। वाद्यों और धुनों में विविधता आ गई है और इस तरह गायकी शास्त्रीयता से बहुत कुछ जुड़ती सी प्रतीत होती है। फिर भी 'लडाई' के गायन में उसमें ओजत्व के स्वर आल्हा के प्रभाव को सुरक्षित रखने में समर्थ हैं। लेकिनजिस दिन संगीतात्मकता के प्रति अधिक लगाव हो जाएगा, उसी समय से गायकी का अपेक्षित प्रभाव नष्ट हो जएगा। इस संभावित खतरे के प्रति गायकों की सजगता आवश्यक है।

बनाफरी

नगर महोबा में देखो ना देखो न किरतुवा ताल।
रानी पद्मिनी का देखों या ना पूज्यों ना मनियाँ देव।
एड़ी महावर छूटो ना लागो न चुनरिया दाग।
तोही न चहिये चोड़ामन कर डारो निरासिन[1] रांड।
लै ले सरापैं चोड़ामन बर कै खाक हुइ जास॥
दीन्हीं जुवाबैं तब चोड़ा ने बेला सुन बात हमार।
कुसगुन ब्वालति हा ग्वांड़ा[2] मा कुछ मो से कहो न जाय।
फते गुसैंयां ने मोती कीन्ही तोही बुरा लाग कस आज।
स्याही सुपेती का मैं मालिक सँभर[3] मा हीसा तिहाव[4]।
हुकुम दीन्ह है पृथ्वीराज ने धर ल्याऊँ पद्मिनी नारि॥

दीन्हीं जुवावै तब बेला ने चोड़ा सुन बात हमार
एक लरकवा के मारे तैं ब्वालस बढ़ बढ़ बोल।
सास हमारी का घर पैहै जब डिल्ली दिया नष्ट हो जाय।
दीन्हीं जुवावैं तब चोड़ा ने वेला सुन बात हमार।
हुकुम तो दीन्हो या ने रामा का काका सुन बात हमार।
जूझो ब्रह्मा है उरई मा सेवा करैं बनाफर[5] आल्ह।
म्याहर[6] राजा है महुबे का धर ल्याव पद्मिनी नारि।
यहै पिथौरा जानै न जानै ना सती बल्लार।
घाट कालपी भे निकरी जा धर ल्याव पद्मिनी नारि॥

हँस कै बेला बोलन लागी काका सुन बात हमार।
नाहर पाले हैं परमाल[7] ने राखैं भुइँ-धरा[8] मांझ[9]।
अँगुरी उठाय देय परमाल तो डारैं जान से मार।
अच्छे अच्छे घोड़ा लै ले औ लै ले नीक[10] सवार॥
आधी रात के अमला[11] मा निकर जा पल्ले पार।
इतनो बातैं सुनो बेला ने दीन्ह गुरू ललकार।

बांदी बांदी कहि गुहिरावै[12] बांदी सुन बात हमार।
जैयैं जैयैं[13] महलन का बसता मोरो ल्याव उठाय।
कलम दवाइत हाथे लाई कागद लाओ उठाय।
राम रमौवल सब सौतन का ऊदल का लिखै परनाम।
घोड़ा बिंदुलिया की बुड्ढ़ा[14] भा की मर गा रजा परमाल।
मैं तो से[15] पूछौं रे ऊदल तैं सुन ले बात हमार।
तोरे नाहर के जीते जी महुवे होय हँसोवा त्वार[16]।
घाट कालती भै[17] आवत है रामापति ग्वालियर क्यार।
बांचै[18] न रामा रे घाटे मा चाहै सात घरै औतार॥

---

१. निरासन से, जिसका समाज में कोई आसन या स्थान हो। निरासी से, जो निराश हो। २. दरवाजे का मैदान ३. सांभर क्षेत्र (पृथ्वीराज रासो में उल्लेख) ४. तिहाई हिस्सा ५. बनाफर ६. सेहरा, स्त्रैण ७. प्रचलित पाठ में 'परमाले' ८ भुइंधरा, तहखाना, सुरंग ९. बनाफरी में मांझा, बीच १० अच्छे ११. समय १२. गुहारना से, पुकारै १३. प्रचलन में 'जैयो' १४ प्रचलित पाठ में 'बढ़ो' १५. तोसे, तुझ, से १६. तेरा, तुम्हारा १७. प्रचलन में 'भे', से या होकर १८. बचै।

सागरी

पाती लिखी मल्हनदे रानी, नैनन बहै नीर की धार।
स्वस्ति श्री आल्हा को लिखि कैं, लिखी बात सब ब्योरेवार।
सात लाख दल लैके महुबो, घेरो आय पिथौरा राय।
तुम बिन बिपदा हम पै पर गई, बेटा हम को होउ सहाय॥
बीतै अवधि डांड़[1] लय पृथ्वी, चाहौ मरो बनाफर राय।
बिलखि बिलखि चन्द्रावलि लिखती, बीरन बेंदुल के असवार॥
आन राखियो चंदेले की, तुम बिन कौन सकै निरवार[2]।
पत[3] राखो मल्हना माता की, और राखियो धरम हमार॥
पत गयें फिर पानी ढर जैहै, बिन पानी जीवन धिरकार[4]।
पाती दैके जगनायक कों, हरनागर कों रही सजाय॥
जगनिक साजे घोड़ा साजो, आरति करी मल्हन दे नार।
लाज काज सब हाथ तुमारे, नैया खेय लगैयो पार॥

फांदि बछेरा पै चढ़ि बैठे, मनियां देवि[५] के चरन मनाय ।
सर्व देवता को सुमिरन कर, जगनिक कूच दियो करवाय ।।
माहिल पहुँचे पृथीराज पै, बिनती करी सुनाई बात ।
उड़न बछेरा हरनागर चढ़, जगनिक चले कनौजै जात ।।
घोड़ा छीन लेउ जगनिक सें, सबरे घाट लेउ घिरवाय ।
आल्हा-उदल महुबे आहैं, तो[६] फिर बात बनेगी नांयँ ।।
इतनी सुनि के पृथीराज ने, चौंड़ा धांधू लिये बुलाय ।
आयसु दीनी उन दोउन को सिगरे घाट लेउ घिरवाय ।।
घोड़ा छीनो जगनिक बांधो, हमरी नजर गुजारो[७] आय ।
यह सुनि चोंड़ा धाधू चलिगे, सिगरे घाट लिये घिरवाय ।।
जगनिक नदी घाट पर पहुँचे तब चौंड़ा ने कही पुकार ।
चुपकं उतरि परो घोडा सैं, जगनिक मानो कही हमार ।।
कोड़ा के संग हरनागर कौं, सौंपो हमें जगम्मन राव ।
मुजरा[८] करिकै पृथ्वीराज को, फिर कनवज को चाहो जाव ।।

१. अर्यदन्ड, हरजाना २. त्राण, बचाव, दूर करना ३. प्रतिष्ठा, इज्जत ४. धिक्कार ५. बुन्देली की हर वर्णना में 'देव' का प्रयोग है, लोक प्रचलन में भी 'देव' कहा जाता है। ६. बुन्देली में 'तौ' का प्रयोग होता है, हर वर्णना में यही पाठ है। ७. सामने पेश करो।

अल्हैती

बारह सो चालीस भनि ईश मास बुधवार ।
करयो कोप चंदेल पर संभिर सम्भिरवार[१] ।।
गुतिया[२] गांसन गांसो महुबे को जैसी कागा घेर लेंय बाग ।
गुतिया गेर लेय गरदन कों जिभिया गेरै बतीसी दांत ।।
सूपा करहरा औ पचपहरा दाबै उरमिल नदी को घाट ।
बारीगढ़ चौराहा टीका मऊ ताला दाबै दमोरा बयार ।।
कोऊ दल मेलो ताला रिहुलिया कोउ किसवाही ताल की पार ।
कोऊ दल मेलो कल्यान सागर पै कोऊ दल बीजानगर की पार ।।

कहाँ लौं बरनों मैं चौंड़ा को सबरो दाबै किरतुवा ताल ।
उड़ै चिरैया जो महुबे से चौडा देत बाज छुड़वाय ।।
परी मुसीबत गढ़ महुबे में कोऊ भीतर घुसै न बाहर जाय ।।
को ना जानै पृथ्वीराज कों मारै शब्द को बेधीबान ।
को ना जानै, लाखन राजा कों मारै चक्र को बेधो बान ।
सबद ना चूकै पृथ्वीराज को चूकै न चक्र कनौजी बयार ।
द्वै बरदान को मुहरा परगा[३] देखो किहि पर राम रिसाय ।।
चरखारी के कोठी ताल पै सब दल पर्‌यो कनौजो बयार ।
ऊँचा खाली में दल परगे नीचे माँ लगी बजार ।।
लगी पलरियाँ[४] हिलवाई कीं औ बनियन की लगीं दुकान ।
चक्की मुकेरन की लागी हैं औ भरभूजन झोंक दये भार ।।
सिकमीगर खरसान[५] गाड़ दई टूटे फूटे जुड़े हथियार ।
कोऊ-कोऊ योधा बद्धी खींचै कोऊ तेगा पै धराबै बाढ़ ।
कोऊ अनी झरावरा है भाला कै सूरन वेध जांय पाषाण ।।
चढ़ी रसुइयाँ रजपूतन की बटुअन चढ़े हिरन के मांस ।
खाना खाओ रजपूतन नें छत्री भोजन करे अघाय ।।
अपनें अपने तम्बुन पै हों चाले नांच कंचनिन[६] बयार ,
लगी कचहरी ह्वां आल्हा कै बंगला भारी लाग दरबार ।।
कुरी छतीसों को अरघा[७] तो बैठे बड़े बड़े मैमार ।
खांगर गूजर औ रघुवंशी और धंधेरे बैस पवांर ।।
मीरा सय्यद काशीवाले चाचा बनारस का सरदार ।
तीनों बैठे हैं बँगला मा आपन लीन्हे पूत परिवार ।।
डटी साहबी मुसलमानन के जिनकै मान न बरनी जाय ।
अली अलामत औ दरिया खां बेटा खड़े अली सुलतान ।।
दीन मुहम्मद वहाँ मेलो तो मोलाबक्स गहे तरवार ।।
रोटी बांध लेय बचका मां पानी डार मसक मां लेय ।
चलै हरोली रनखेतन मां हिन्दुन खां रोटी खांय न देय ।।
बारा लड़के ते सय्यद के औ तेरा ते सगे दमाद ।
सेखी बिसर जाय हिन्दुन कै बाजै मुसलमान के सांग ।।
आंखी कनवजियन लागै ना तम्बुआ ना सोवैं लखराज ।

१ पृथ्वीराज चौहान २. गले का आभूषण, जो गले को पूरी तरह घेरे रहता है। ३. मुकाबला पड़ गया ४. टाट, मोटे कपड़ा आदि से चंदोवे की तरह तान

कर छाया कर लेना ५. पत्थर की वह चक्की, जिस पर तलवार जैसे शस्त्रों की धार तेज की जाती है। ६ वेश्याएँ, नर्तकियाँ ७. अर्धवृताकार पत्थर का आधार।

भोजपुरी

भोजपुरी जनपद में 'आल्हा' का प्रसार इतना अधिक हुआ है कि वह वहाँ के लोकजीवन और सहित्य का एक अंग बन चुका है। उसकी वर्णना को सुन कर या पढ़कर ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वह बुन्देली का रूपान्तरण है। इसी लिये डा० सत्यव्रत सिन्हा ने लिखा है कि अब यह जगनिककृत आल्हखंड सर्वथा भोजपुरिया 'आल्हा' हो गई है।' सिन्हा जी का कथन सही है, पर भोजपुरी जनपद में दो प्रकार की वर्णनाएँ मिलती हैं—एक तो वह जो लोकमुख में आज भी जीवित है और दूसरी वह जो प्राप्त पाठों से रूपान्तरित है। आशय यह है कि प्रथम प्रकार की वर्णना बहुत पहले बुन्देली से रूपान्तरित होकर भोजपुरी में आई होगी और वह धीरे-धीरे और अधिक परिवर्तित होकर भोजपुरी की अपनी बनकर लोकमुख में परम्परित दाय के रूप में जीवित रही होगी, परन्तु दूसरी प्रकार की वर्णना आज भी अपनी प्रथम स्थिति में केवल रूपान्तर मात्र है।

डा० कृष्णदेव उपाध्याय, डा० सत्यव्रत सिन्हा आदि भोजपुरी के विद्वानों ने 'आल्हा' को वीरकथात्मक लोकगाथा माना है। डा० सिन्हा उसे जगनिककृत 'आल्हखंड' से उद्भूत कहकर भी असमंजस की स्थिति में हैं क्योंकि वे 'आल्हाखंड' के मूल रूप के बारे में कोई निर्णय नहीं ले सके। एक तरफ तो वे उसे 'पृथ्वीराज रासो' 'बीसलदेव रासो' 'खुमाण रासो' की तरह चारण-गाथा कहते हैं और दूसरी तरफ साहित्यिक कृति मानने में सन्देह करते हैं। क्या कोई कवि रचित गाथा साहित्य से बाहर की वस्तु है, मैं तो यह समझता हूँ कि किसी कवि के द्वारा रची गयी रचना, चाहे वह लोकगाथा हो चाहे लोकगीत, यदि वह कविता है, तो साहित्य का अंग होगी ही। और डा० सिन्हा जी ने यह स्वीकार किया है कि 'आल्हखंड' कवि जगनिक की बुन्देली में रचित स्वतंत्र रचना है, और उसका रचना-काल बारहवीं शताब्दी है। असल में विद्वान समीक्षक वास्तविक 'लोकगाथा' उसी को मानता है, जिसका रचयिता अज्ञात हो, इसीलिए वह जगनिक का नाम केवल जनश्रुति में प्रचलित बताता है और

हस्तलिखित प्रति के अभाव के आधार पर अपनी रक्षा कर लेता है। लोक काव्य के बारे में कुछ भ्रम पश्चिमी विद्वानों की मान्यताओं के अनुसरण के कारण बन गये हैं। लोकगाथा होने के लिए रचनाकार का अस्तित्व या प्रामाणिक या मूल प्रति कोई बाधा नहीं है, शर्त यह है कि उसमें लोकानुभूति और लोकाभिव्यक्ति की सभी विशेषताएं हों और उसे लोक ने अपना लिया हो।

इस जनपद में 'आल्हा' का गायन ज्यादातर वर्षा ऋतु में होता है। शायद इसी ऋतु में अधिक प्रचलन से लोगों में यह विश्वास घर कर गया है कि 'आल्हा' गाने से वर्षा होती है, वरना इसका कारण कृषकों का इस समय अवकाश पाना है। लेकिन इससे 'आल्हा' के प्रति भोजपुरीभाषिओं की आत्मीयता सिद्ध होती है। यह विश्वास बुन्देलखंड के कुछ स्थानों में पाया जाता है, रहली (जिला सागर) के एक निवासी ने अपने आस-पास इस विश्वास की दृढ़ता की सूचना दी है। इसी कारण 'आल्हा' आषाढ़ के लगते ही शुरू हो जाता है और दो-तीन माह तक चलता रहता है।

भोजपुरी क्षेत्र में आल्हा-गायकी और स्वरलिपि के अनुसंधान की जरूरत है। गायक या अल्हैत ढोल पर गाते हुए अपने स्वर के आरोह-अवरो के अनुसार उस पर चोट करते हैं। कभी ढोल की एक थाप बीच में देकर गद्य की तरह 'आलहा' की पंक्तियाँ द्रुत गति से बोली जाती हैं और कभी द्रुत लय में गाई जाती हैं। विषय और भाव के आधार पर गायक का स्वर ऊँचा या धीमा होता रहता है और कुछ पंक्तियाँ द्रुतलय में गाने के बाद एक पंक्ति के अन्त में जोर की आलाप ली जाती है। इससे गायक को सांस लेने का मौका मिल जाता है। साथ ही साथ समस्वर के कारण निर्मित पाठ की एकरसता समाप्त हो जाती है और ताजापन-सा आ जाता है। इस तरह की गायकी का प्रचलन ही सामान्यतः पूरे जनपद में पाया जाता है। यहाँ लोकप्रचलित भोजपुरी रूप का एक अंश प्रस्तुत है—

नाम रूदल के सुन के सोनवाँ बड़ मंगन[१] होय जाय।
लौंड़ी[२] लौंड़ी के ललकार मुँगिया लौंड़ी बात मनाव॥
रात सपनवाँ मे सिव बाबा के सिव पूजन चलो बनाय।
जौने झंपोला[३] है गहना के कपड़ा कइले[४] आव उठाय॥
खुलल पेटारा[५] कपड़ा के जिन्हके रास देल लगवाय।
पेन्हल घांघरा पच्छिम के मखमल के गोट चढ़ाव॥
चोलिया[६] मुसरूफ के जेह[७] में बावन बन्द लगाय।

पोरे पोरे अंगुठी पड़ि गइल सारे चुनरियन के झंझकार[8]।
सोभे नगीना कनगुरिया[9] में जिन्हके हीरा चमके दाँत ।।
सात लाख के मँग[10] टीका है लिलार में लेली लगाय।
जूड़ा खुल गइल पीठन पर जइसे लोटे करियवा नाग ।।
काढ़ दरपनी मुँह देखे सोनवाँ मने मन करे गुमान।
मरजा भइया राजा इंदरमन घरे बहिनी राखे कुआर ।।

बइस[11] हमार बित गइले[12] नैनागढ़ में रही बार कुआर।
आग लगाइबि एह सूरत मे नैना सँवली[13] नार कुआर ।।

अरे त लागल कचहरी इन्दरमन के बंगला बड़ बड़े बबुआन[14]।
ओहि समन्तर[15] लौड़ी पहुँचल इन्दरमन कन गइल बनाय ।।

आइल राजा बघरूदल सोनवाँ के डोला घिरावलबाय[16]।
माँगे बिअहवा सोनवाँ के बरियारी[17] से माँगे बियाह ।।
हवे किछू बूता[18] जांघन में सोनवाँ के लाव छोड़ाय।
मने मन झांके राजा इन्दरमन बाबू मनेमन करे गुमान ।।

बेर बेर बरजों[19] सोनवाँ के बहिनी कहलन मनलड मोर[20]।
पड़ि गयल बीड़ा जाजिम पर बीड़ा पड़ल नो लाख ।।

है केउ राजा लड़वइया रूदल पर बीड़ा खाय।
चाहड़[21] काँपे लड़वइया के जिन्हके हिले बतीसो दाँत ।।

केकरा[22] जियरा है भारी रूदल से जान दियावे जाय।
बीड़ा उठावल जब लहरासिंध कल्ला तरदैल[23] दबाय ।।

मारू डंका बजवाये लकड़ी बोले जुझान जुझान।
एकौ एका[24] दल बदुरल[25] जिन्हके दल बावन नबे हजार ।।

बूढ़ मकुना[26] बियाउर[27] के गिनती नाहीं जब हाथ के गनती नाहि।
बावन मकुना के खोलवाई राजा सोरह सै दन्तार ।।
नब्बे सो हाथी के दल में मेंड़ल उपरे नाग डम्बर[28] मेंडराय।
चचल परबतिया परबत के लाकर बांध चलै तरवार ।।

चलत वंगाली वंगाला के लोहन में बड़ चंडाल।
चलल मरहट्ठा दक्खिन के पक्का नौ नौ मन के गोला खाय।
नौ सौ तोप चलल सरकारी मँगनी[29] जोते तेरह हजार ।।

बावन गाड़ी पथरी लादल तिरपन गाड़ी बरूद।
बत्तिस गाड़ो सीसा लद गइल जिन्ह के लँगे लदल तरवार ।।

एक रुदेला एक डेबा पर नब्बे लाख असवार।

---

१. मग्न २. दासी ३. आभूषण रखने की बाँस की बनी, बुन्देली में चुलिया। ४. कर लो ५. पेटी ६. पेटी ७. जिस ८.झनकार ९. कान का आभूशण १०.- मांग। ११. उम्र १२. बीत गई १३. सांवली १४ बबुआ या बाबू लोग १५.- समय १६. घेर लिया। १७. जबर्दस्ती १८. बल १९. मना करूं २०. मेरा कहना मान लो २१. शायद हाड़। २२. किसका २३. नीचे २४. एक-एक करके २५. इकट्टा हुआ। २६. बिना दांत का हाथी। २७. गाभिन २८. हाथी की झूल २९. मांगे हुए।

कन्नौजी

कनौजी जनपद में 'आल्हा' की लोकप्रियता की चर्चा करते हुए डा० सन्तराम अनिल ने लिखा है—'कनौजी में जितने भी 'पंवारे' उपलब्ध होते हैं, उतमें प्रचार, व्यापकता और लोकप्रियता की दृष्टियों से 'आल्हा' का स्थान सर्वोपरि है। यह इतना अधिक गाया जाता है कि इसकी सूक्ष्म घटना की जानकारी सर्वसाधारण को रहती है। महाकाव्यों में चरित-नायक के रूप में राम को जो प्रतिष्ठा मिली है, पंवारों में वही प्रतिष्ठा आल्हा और ऊदल को इस क्षेत्र में मिली है। इससे स्पष्ट है कि अनिल जी 'आल्हा' को 'पंवारा' कहते हैं, लोकगाथा नहीं। उसकी मूल लिपि प्राप्त न होने और केवल लोक-मुख में जीवित रहने के कारण वे उसे विशुद्ध लोककाव्य की कोटि में मानते हैं, फिर भी उनका विश्वास है कि 'चाहे जगनिक ने इसकी रचना की हो या किसी अन्य लोककवि ने, परिस्थिति को देखते हुए ऐसा ही कहा जा सकता है कि इसे बुन्देल खन्ड में ही वहाँ की क्षेत्रीय भाषा में रचा गया होगा।'

इस जनपद में 'आल्हा' के विभिन्न रूप प्रचलित हैं। जितने गायक हैं, उतने ही रूप। रूपों में थोड़ा या कभी-कभी प्रर्याप्त अंतर होते हुये भी उनकी गाय- की में कोई भिन्नता नहीं है। गेयता या संगीतात्मकता 'आल्हा' का अनि-वार्य तत्व है। उसे 'समस्वर' और 'द्रुतगति' लय में गाया जाता है। कुछ रूढ़ अंश की पुनरावृत्ति करते हुए उसे टेक जैसा प्रयुक्त कर गायक बिराम-सा लेता है। जैसे— हिअन की बातें हिअनै छोड़ो और आगे को सुनो हवाल'। सर्वत्र एक ही लय या छंद का प्रयोग किया जाता है। केवल भाव और वस्तु के अनुसार गायक का स्वर करुण या ओजस्वी बन जाता है। यहाँ लोकमुख में

जीवित एक संक्षिप्त अंश उद्धृत है—

जत सांगड़ा[१] है दंगल मैं, जहं चुचुआत[२] फिरैं असवार।
पैदर के संग पैदर अभिरे,[३] औ असवारन ते असवार॥
झुके सिपाही महुबे बाले, रहिगओ डेढ़ कदम मैदान।
खेंचि सिरोही लइ छत्रिन ने दल में झुके बांकुरे ज्वान॥

मिले बखोरा हैं छत्रिन के कल्ला[४] मिले बछेरन बयार।
छप-छप छप-छप तेगा बाजें बोले खटक-खटक तरवार॥
ढाल ते ढाल अड़ी ज्वानन की नहियें दांव सिरोही बयार।
तीर तुपक तरवार सांगड़ा, ऊपर बरछिन की है मार॥

सुआ[५] सुपारी जइसे काटे, छांटे मनो तमोली पान।
कटि कटि छोना रजपूतन के गिरिगए पोनन[६] के उनमान।
पिले कांइयां हैं दंगल मैं, जेसे खेती लुनै[७] किसान।
जइसे भिड़ता[८] भेड़न पइठें जैसे सिंघ बिदोरै[९] गाय॥
तइसे मलिखे दल में पइठे, हाहाकारी दई मचाय।
मघा की बून्दन गोली बरसैं, ऊपर तीरन की बौछार॥

इक-इक तोपन के मोहरा पै, छय छय[१०] ज्वान गरासे[११]जाय।
लये बांसड़ा खल्लासिन ने, दूरि ते दीनी लूक[१२] लगाय।
सूरज छिपे भयो अँधियारो, चहुं दिस कुहरा सो दिखलाय।
गरजत तोप धरन दहलत है, गिरि गए गरभ पखेरून बयार।
जिहि हांथी के गोला लागै गहिरी छोड़ि देत चिघार।
जाइ ऊंट के गोला लागै, दल में देत गांड़ फैलाय।
गोला लागै जा घोड़ा के, चारों देवै सुम्म पसारि।
गोला लागै जा छत्री के आगे सरग परै दिखलाय।
पैग-पैग[१३]पै पैदल गिरि गए औ दुइ पैग गिरे असवार।
बिसे-बिसे[१४]पै हांथी गिरि गए, छोटे परबत की उनहार[१५]।
ऊपर मुरदा नीचे मुरदा, मुरदै मुरदा रहे दिखाय।
भाला डारे हैं लोहू मैं, मानो नाग रहे मन्नाय।
पगियां डारी हैं लोहुन मैं, मानो कमल फूल उतरांय।
ढालें कछुआ सी उतरामैं, मछरी जइसी लगैं कटार।
रून्ड-मुंड से धरती तुपि[१६]गई, रक्ता लाल बरन दिखलाय।
जहां हरहर हर करै दिगम्बर, और सिउनांव रटैं भगमान।
सेसनाग बिजना[१७]लौं कांपैं, इन्दर डोलैं चढ़े विमान॥

सन्मुख सूर समर मैं जूझैं, ताकौं इन्दर पुरिलइ जांय।
काहर जूझि गिरे धरनी मैं, जमके दूत पकरि लइ जांय।

---

१. बड़ी सांग, भाले की तरह का शस्त्र २. रिसना, रिसते लोहू से सने ३. भिड़े ४. जबड़ा या उसके नीचे गले का भाग ५. तोता ६. रूई की पोनियां ७. फसल काटना ८. भेड़िया ९. विदीर्ण करे १०. छः ११. ग्रसना १२. आग की लपट, ज्वाला १३. पग, डग १४. बीघे का बीसवां भाग १५. समान १६. भरना १७. पंखा।

अवधी

अवधी जनपद में सावन के महीने में पुरुष वर्ग द्वारा 'आल्हा' गाया जाता है। असाढ़ में फसल बोने के बाद लगभग दो-तीन माह के अवकाश में इस गीत का जोर रहता है। डा० सरोजनी रोहतगी ने उसे 'पँवाड़ा' शैली का लोकगीत माना है और एक दूसरे स्थल पर आल्हा-ऊदल की गाथा भी कहा है। अल्हैत ओजपूर्ण धुन में जोशीले स्वर से इसे गाते हैं। आल्हा-गायकी पर खोज होना चाहिए। वैसे इस क्षेत्र में भी वह इतना लोकप्रिय है कि लोक-जीवन का अनिवार्य अंग सा बन गया है और उसका आल्ह छंद लोककवियों का प्रिय छंद। यहां उसकी लोकमुख में अवशिष्ट और अल्हैतों द्वारा गाई जाने वाली दो भिन्न वर्णनाएँ प्रचलित हैं। एक संक्षिप्त अंश उद्धृत है—

कजरी वन के हाथी सजिगे, सजिगे राजस्तानी ऊंट।
सजिगे बर्धा मकनापुर के, सजिगे नये जवां रंगरूट॥
सज गईं तोपैं हैं चरखिन पै, सजिगे सेनापति सरदार।
सजगे रथ रब्बा जो लढ़िया, घुंघरू बजै बैलनवन बयार।
सजगे मारू बजा वाले, सजगे घोड़न के असवार।
सजगे खच्चर बोझा वाले, सजगे ज्वान छड़ी बरदार॥
चरमर-चरमर पनही बोलै, झण्डा आसमान फहराय।
जंग का बिलला बांधे योद्धा, रहे मूछैं पै हाथ फिराय॥

ब्रह्मा मलखे आल्हा ताला, ढ़ेवा और उदयसिह राय।
ढिगै जाय मल्हना रानी के, पावन पड़े मनै हरपाय ।।
आशिष दीन्हीं रानि मल्हनाने पूजिन भुजा तिलक दे भाल।
बोली मल्हना जावो बेटा, तुम्हरो होय न बांका बाल।
पीठ दिखइयो मत बैरी को, चहै तन धजो-धजी उड़ जाय।
सुनत बतकहो रानि मल्हना की, कहन लगे उदयसिह राय ।।

काव्य खण्ड

भाद्रकृष्णाष्टमीसौम्ये ब्राह्मनक्षत्रसंयुते ।
प्रादुरासीज्जगन्नाथो देवक्यां च महोत्तमः ।। ३३ ।।
श्यामांगः हच पद्माक्ष इंद्रनीलमणिद्युतिः ।
विमानानां सहस्राणां प्रकाशः समजायत ।। ३४ ।।
विस्मिता जननी तत्र दृष्ट्वा वालं तमद्भुतम् ।
नगरे च महाश्चर्यं जातं सर्वे समाययुः ।। ३५ ।।
उदयः किमहो जातो देवानां सूर्यरूपकः ।
इत्याश्चर्य्याजुजां तेषां वागुवाचाशरीरिणी ।। ३६ ।।
कृष्णांशो भूतले जातः सर्वानन्दप्रदायकः ।
स नाम्नोदयसिंहो हि सर्वशत्रुप्रकाशहा ।। ३७ ।।

—भविष्य पुराण, तृतीय खंड' नवम अध्याय ।

[टीप :—भाले ही भविष्य पुराण १२वीं शती कों बहुत बाद रची गई हो, किन्तु वत्सराज (आल्हा-ऊदल के पिता) से कृष्णांश का अवतरण मानना अपने में एक अर्थ रखता है और यह सिद्ध करता है कि संस्कृत के इतिहासकार कवि भी लोक-नायक को पूरा महत्व देते थे । आल्हा या ऊदल का अवतार के रूप में वर्णन लोकश्रद्धा का परिचय तो देता ही है, पँडितवर्ग में अपने महिमामंडित चरित्र की प्रतिष्ठा का साक्षी भी है ।]

आल्हखण्ड की उपजीवी काव्य सम्पदा

सम्पादन एवं टिप्पणी : डा० नर्मदा प्रसाद गुप्त

आल्हखण्ड अपनी अपार ऊर्जस्विता, असाधारण प्रभावशालिता और अतिशय प्रेषणीयता के कारण इतना लोकप्रिय हुआ है कि जनसाधारण से लेकर विद्वान साहित्यकार तक उससे प्रेरणा लेते रहे हैं। हर जगह और हर समय। जीवन के हर अनुभव यहाँ तक कि काव्य-रचना में। विचित्र तो यह है कि आल्हखण्ड में न तो कोई विशिष्ट दर्शन है और न कोई परिपक्व वैचारिकता, न कल्पना की विशेष उड़ान है और न भावों की अनोखी संयोजना तथा भाषा और शैली का अनुपम शृंगार भी नहीं, भिर भी उसकी वस्तु और शैली का इतना अनुसरण हुआ है कि उनकी एक परम्परा ही बन गई है। न जाने कितने लोकगीत, प्रबंध, मुक्तक, नाटक, उपन्यास आदि रचे गए हैं, उनकी खोज करना तक एक साहस कार्य है। खासतौर से आदि और मध्यकाल के पुराने ग्रंथों और रचनाओं को मुश्किल यह है कि १३ वीं से १५ वीं शती तक इस बुंदेलखण्ड जनपद में बाहरी आक्रमणों, बिखरे और बिभाजित राज्यों तथा अक्षम और अपर्याप्त सुरक्षा-साधनों के कारण काव्य-सम्पदा सुरक्षित नहीं रह सकी। और १६ वीं शती से लेकर आज तक की कालावधि में भी यहाँ की काव्य-सम्पदा पर कितने डाके डले हैं, उनकी कोई गणना नहीं। फिर भी जो अवशिष्ट और उपलब्ध है, उसका क्रमबद्ध अध्ययन बहुत आवश्यक है।

उपजीवी काव्य की इतनी दीर्घ परम्परा से स्पष्ट है कि आल्हखण्ड अपने रचना-काल (१२ वीं शती) में ही लोकप्रिय हो गया था और तभी से इस परम्परा का सूत्रपात हुआ होगा। ज्यादातर लोकगीतों, गाथाओं और आख्यानों के रूप में। उसके बाद ही प्रबंध रचे गए, जब रचनाकारों के कानों तक उनकी गूंज पहुँची। प्रबन्धों के साथ-साथ लोककाव्य की भी रचना हुई होगी, पर अभी तक अधिक साहित्य खोज में नहीं मिला। जितना उपलब्ध हो सका, उसकी बानगी के रूप में कुछ अंश संकलित हैं, संक्षिप्त टिप्पणियों

के साथ। कुछ पुराने हैं और कुछ नये, पर उनके क्रमबद्ध अध्ययन से एक लम्बी परम्परा का अनुमान सहज रूप में किया जा सकता है।

● कजरियन को राछरो (१३ वीं-१४ वीं शती)

आल्हा तो पुरुष गीत है, इसलिए नारियाँ उसे नहीं गातीं। फिर क्या इतनी लोकप्रिय आल्हा की कथा लोकगीतों में नहीं ढली, यह सवाल मेरे मन को बार-बार कचोटता रहा है। बहुत खोजने पर भी कोई ऐसा लोकगीत नहीं मिला, जिसमें कजरियों की लड़ाई का वर्णन हो। अचानक एक राछरा हाथ लगा, जो अपूर्ण सा है, फिर भी उसमें महोबा के चंदेल-चौहानयुद्ध की झलक मिलती है।

आल्हखण्ड में वर्णित यह युद्ध महोबे की लड़ाई या कजरियों की लड़ाई के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि सावन में ही पृथ्वीराज चौहान ने चढ़ाई की थी और कजरियाँ खोंटते समय ही युद्ध हुआ था। आल्हा-ऊदल के कन्नौज से न आने के कारण राजा परमाल (परमर्दिदेव) की बेटी राजकुमारी चन्द्रावलि की कजरियाँ एक दिन दुर्ग में बिलखतीं रही थीं, तब दूसरे दिन भादों में खुँटीं थीं। महोबा में आज भी कजरियाँ सावन की पूर्णिमा के अगले दिन खोंटी जाती हैं। इस कारण ही लोकगीत में भादों में कजरियाँ सिराने के लिए कहा गया है। भाई बहिन को राय देता है कि इस वर्ष कजरियाँ घर में ही खोंट लो। सोने की बड़ी-बड़ी नांदों में दूध भरा है, उन्हीं में सिरा लो। इस पर बहिन हठ करती है कि वह या तो तालाब के घाट में ही जाएगी, या फिर कजरियाँ सूख जाएंगीं। यहाँ पर चन्द्रावलि की तरह ही बहिन के लिए भी प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाता है और भाई कहता है कि वह कैसी बहिन है जो अपनी हठ से भाई के प्राण जबर्दस्ती लेना चाहती है। इस सावन में तो युद्ध हो रहा है, अगले सावन में तालाब पर ही कजरियाँ खोंटना। बहिन नहीं मानती और फिर हर घर में बुलौआ दिया जाता है। बहिन श्रृंगार करती है और भाई अपनी ढाल-तलवार लेता है। बागो (केशरिया बागो) रण में जूझने और पाग प्रतिष्ठा का प्रतीक है। भाई तैयार हो जाता है, पर बिना मुँह मीठा किये कैसे जा सकता। सोने के थार में छप्पन प्रकार के व्यंजन परोसे जाते हैं, लेकिन भाई एक कौर खाकर ही उठ जाता है। वह कहता है कि वह तो रण में जूझने जा रहा है। कलेवा वे करते हैं, जो कुमारी कन्या ब्याहने जाते है। फिर डोला और चौंडेल सजते हैं। जैसे ही कजरियाँ ताल के घाट पर जाती हैं शत्रु सेना टूट पड़ती है। भाई बहिन से कहता है कि अभी लौटना हो, लौट

जाओ। किसी के हाथों न पड़ना, नहीं तो कुल में कलंक लग जाएगा। बहिन भी वीर है, रण से नहीं भागती और भाई भी मैदान में मोर्चे पर लड़ता है, अलग-बगल नहीं। शत्रुओं को मारते-मारते उसकी भुजाएँ थक गई हैं और ललकारते ललकारते आवाज बैठ गई है। भाई की इस वीरता पर ही लोकगीत समाप्त हो जाता है और ऐसा लगता है कि जैसे कुछ छूट गया हो।

इस राछरे में बहिन चंद्रावली की तरह ही हठ करती है। राजा परमाल की पुत्री चंद्रावली ने ही डोला तैयार करवा कर दुर्ग से बाहर निकलने को विवश कर दिया था। उसने अपने भाई ब्रह्मजित से कहा था कि वह तो कजरियाँ खोंटने कीर्तिसागर जाएगी ही और सात सौ डोले सज-कर किले के बाहर हो गए थे। इस कारण ब्रह्मजित को विवश होकर सेना के साथ युद्ध के मैदान जाना पड़ा था। इसी वर्णन की पूरी छाया इस गीत पर दिखती है। अंतर इतना है कि इस गीत के बहिन-भाई लोकसामान्य पात्र हैं। मुख्य घटना दोनों में एक सी है। 'आल्हा' में कजरियों भरे डोले तालाब पर पहुँचने के तुरन्त बाद युद्ध शुरू हो जाता है और इस गीत में भी। अवश्य यह राछरा अपने मूल रूप में आल्हाखण्ड की 'महोबे की लड़ाई' का एक सामान्य लोकचित्र रहा होगा, जो आगे चलकर इस रूप में अवशिष्ट रह गया।

गीत का काल-निर्धारण कठिन है। उसमें पुरानी बुन्देली के कुछ शब्द-गेंवड़े, सिराय, मानिक चौक, बीरा, जूझ, बखरी, घुल्लन, बागो, पाग, गड़अन, डोला, भुज्जें, भांस आदि उसे बहुत प्राचीन सिद्ध करते हैं और नकीब (अरबी), दुश्मन (फारसी), दाग (फारसी) जैसे शब्द मध्ययुग का। वैसे इसमें पुराने शब्द अधिक हैं। भुज्जें, घुल्लन और बागो तो आदिकाल के हैं, जिससे यह गीत १३वीं १४वीं शती का प्रतीत होता है। पूरा गीत और उसकी दूसरी वर्णनाएँ मिलाने पर काल निर्धारण और भी सही हो सकता है।

इस लघु राछरे में लोकसंस्कृति के कुछ चित्र भी उभर कर आए हैं। कजरियाँ सिराना, बीरा (पान के बीड़ा) लगाना, बागो और पाग धारण करना, घोड़े के सुम्म और पूंछ रचाना और रँगना, डोला और चौंडेल पर बैठना आदि सब संस्कृति के प्राचीन चिह्न हैं। भाई का बहिन का कजरियों के लिए शत्रु से लड़ना बुन्देली लोकसंस्कृति का पुराना आदर्श है। कजरियाँ बोना, खोंटने के पहले चौक में रखना, झूला में झुलाना, पान के बीड़े लगा-कर रखना, (ताकि जो उसे उठाएगा, वह उनकी रक्षा का पूरा उत्तरदायित्व

लेगा और उसके लिए युद्ध करेगा), भाई के जाने के पूर्व उनका मुंह मीठा करना, डोला पर कजरियां ले जाना, तालाब के घाट पर खोंटना, उन्हें देना (शत्रु लेने का अधिकारी नहीं होता, इस कारण उनकी रक्षा की जाती है) सारी क्रियाएँ लोकसंस्कृति का अंग रही हैं। इस दृष्टि से भी यह गीत बहुत पुराना सिद्ध होता है।

अधिक विश्लेषण की गुंजाइश नहीं, राछरे की प्राप्त वर्णना प्रस्तुत है ताकि वह लुप्त न हो जाय और 'आल्हा' या आल्हखण्ड की प्रामाणिक गवाही भी दे सके—

साउन महीना नीको लगै, अरे, गेंवड़े[१] रहे हरयाय।
साउन में कजरियां बै[२] दईं, भादों में दैहें सिराय॥
ऐसो है कोउ भइया धरमी, बहिना खों लओ है बुलाय
आसों के साउन घर के करौ, आगे के दैहों कराय
सोने की नांदें दूधन भरीं, सो कजरियाँ लेव सिराय
कै जैहें तला के पार[३] भैया, कै जैहें कजरियाँ सूख
धरीं कजरियां मानिक[४] चौक में, वीरा[५] लये हैं लगाय
कैसी री बहिना हट्टे[५] परी है, बरबस[६] लेत पिरान
आसों के साउना[७] जूझा[८] के हैं, आगे के दैहों कराय
नउनिया बुलाव री बखरी में, बुलौवा देव कराय
दोरी दौरी नउनिया फिरै, घर घर फिरै नकीब
कॉना धरी मोरी माथे की बिंदिया काँना धरे सिंगार
डबियन धरी है माथे की बिंदिया डब्बन धरे सिंगार
कॉना धरी है छुरी कटरिया, कॉना धरी गेंड़ा ढ़ाल
कौंनन टँगी है छुरी कटरिया, घुल्लन[९] टँगी है ढ़ाल
कॉना धरो है सुरसी को बागो, कॉना निरमोला पाग[१०]
मढ़ा[११] धरो है सुरसी को बागो, अटरियन धरी है पाग
झला में कजरियां झुलाउत, भइया खां लओ है बुलाय
छप्पन भोजन करो मोरे भइया, कजरियाँ देव सिरवा
सोने के थारन भोजन परोसो, रूपे के गड़अन[१२] नीर
एक कौर भैया दै लओ दूजो दओ सरकाय
कै थारन माछी गिरी कै टूटो सिर को बार
नै तो मइया माछी गिरी नै टूटो सिर को बार
कुंवर कलेऊ वे करें जे क्वाँरी ब्याहन जाँय

हम कलेऊ का करें जो रन जूझन खों जांय
रचाये पांव घुड़िया के पूंछा रँगी सराबोर
बारन बारन मोंती गोये किसवारन[१३] हीरा लाल
बिटियन के डोला[१४] सजे बहुअन की चौंडे़ल[१५]
जेठी पकर लई ताजमों[१६] लुहरी घोड़ा की बाग
जेठी खों पठैयों मायकें लुहरी को तुमइपै भार
धरी कजरियां तला के पारें[१७] बिटियां आन सिराव
टूटी फौजें दुश्मन की बहिन भगनें होय भग जाव
हॉत न परियो काऊ के लग जैहै कुल में दाग
तुपकन के कुंदुआ[१८] लगे मूंड़न के गंजे पहार
बसती लड़े इडियन छिड़ियन[१९] मँगदा लड़ें मैदान
मारत मारत भुज्जै[२०] रै गईं ललकारत रै गई भांस[२१]

---

१. बस्ती से सटा हुआ चोरों ओर का भूभाग २. बो दी हैं ३. तालाव के घाट ४. माणिक्यों से जुरो चौक ५. पान के बीड़ा ६. जबर्दस्ती ७. सावन ८. लड़ाई, ९. खूंटेमें, जिनका सिरा अश्वमुखी हो। १०. पाग या पगड़ी, जो प्रतिष्ठा की प्रतीक होने से अमोल या अमूल्य होती है। ११. अन्दर की कोठरी १२. लोटे १३. केशों में १४. नारियों की पालकीनुमा सवारी, जिसे कहार ढ़ोते हैं। १५. वह डोला जिश पर पर्दा पड़ा हो १६. घोड़े के मुहाने का सबसे ऊपरी भाग १७. पार या घाट में १८. ढेर १९. गली-गली २०. भुजाएँ २१. आवाज थक गई।

• महोबा रासो (१५२६ ई० के लगभग)

परमाल रासो का सम्पादन बाबू श्यामसुन्दर दास ने दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया है, परन्तु उसका पाठ-निर्धारिण ठीक नहीं है। बुन्देलखण्ड में उसकी कई हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध हैं और इसी को अधिकांश लोग जगनिक का असली आल्हखन्ड मानते हैं। सभी में चंदकृत पृबीराज रासो नाम लिखा मिलता है, किन्तु बाबू जी ने इसका नाम परमाल रासो दिया है। वस्तुतः दोनों नाम उचित नहीं हैं क्योंकि कथा का नायकत्व आल्हा-ऊदल के हाथ में है। ग्रन्थ के अंत में 'समय महोबा श्रमन करि' से इसका नाम 'महोबा समय' उचित कहा जा सकता है, पर उससे पृथ्वीराज

रासो के 'महोबा समय' का बोध होता और वह भ्रम में डालता है। इसलिये उसका 'महोबा रासो' नाम सर्वथा उचित है। बुन्देलखन्ड में करहिया को रायसो, बाघाइट को रायसो, झांसी को राइसो जैसे स्थलनामधारी कई रासो ग्रन्थ मिलते हैं।

महोबा रासो का रचना-काल अज्ञात है। बाबूश्यामसुन्दर दास जी ने विक्रम की सत्रहवीं-अठारवी शती और डा० शम्भूनाथ सिंह ने सं० १८४९ वि० निर्धारित किया है, लेकिन ग्रन्थ में 'राज छोड़ि तोंवर नृपति' से तोमर-नरेशों का राज्य समाप्त होने का और 'धुरपद इक्क गाइव' से ध्रुपद के आविष्कार के बाद का संकेत मिलता है, जिनसे उसका रचनाकाल १५२६ ई० या उसके आसपास ठहरता है। रचनाकार अज्ञात है, चंद या जगनिक मानना उचित नहीं है पर यह निश्चित है कि बुन्देली भाषारूप और महोबा के स्थलों केववरिणों से वह महोबा के आसपास का निवासी कोई तीसरा कवि है। अगर उसका रचयिता चंद होता, तो उसमें आल्हा-ऊदल की इतनी प्रमुखता न होती और यदि जगनिक होता, तो उसमें ध्रुपद और तोमरों का उललेख न किया जाता।

इस प्रबन्ध में दो प्रमुख राष्ट्रीय युद्धों का वर्णन है—एक चंदेल और चौहान युद्ध और दूसरा आल्हा का यवनों से युद्ध। दोनों की पुष्टि इतिहास से होती है। पात्र ऐतिहासिक हैं और कल्पित भी। प्रमुख रस वीर है, गौण रूप में शृङ्गार, करूण, शान्त आदि रसों की अभिव्यक्ति हुई है। शिल्प-विधान परम्परित होता हुआ भी कहीं-कहीं नवीन है। संवादों में नाटकीयता और दर्पोक्तियों में ओजमयता कवि के कौशल को व्यक्त करती है। भाषा में डिंगल का रंग भरने की परम्परित प्रवृति है, पर उसका का मूल रूप बुन्देली है। इस तरह महोबा रासो एक वृहदाकार प्रबन्ध है।

बुन्देलखन्ड की रासो काव्य-परम्परा और विशेष रूप में छन्दवैविध्यपरक रासो काव्य-धारा के विकास में महोबा रासो का योगदान महत्वपूर्ण है क्योंकि बाद के रासो ग्रंथों पर उसका प्रभाव परिलक्षित होता है। आवश्यकता है उसके पाठ-निर्धारण और सम्पादन की। यहाँ उसका अल्पांश बानगी के रुप में प्रस्तुत है—

(जगनक कनवंजपुर गमन खंड)

अन्तहपुर[1] मल्हन सहित, वैठि नृपति चित लाय।
जगनक वर कविराज कहँ, लिन्निव अन्त बुलाय ॥६०॥

चौपही।

बुल्लत प्रगट भूप ये बैनह[2]। मो मानस बिन आल्ह न चैनह।
पंच अहन मह कनवज जावहु। जसरथ-नन्दन वेगि बुलावहु ॥६१॥

दोहा।

भूपति के ये वचन सुनि, चित्त रोष अति ल्याइ।
बत्त परस्पर बुद्धिवर, बुल्लिव जगनक राई ॥६२॥

पद्धरी।

उच्चरहि बैन जगन्निक राय। पड़िहार पंच दिज्जै पठाय ॥
चुगली कुवंत्त[3] स्रुति लिन्न डारि। ग्रीषम सुधर्म दिन्नव निकारी ।६३।
अब कहत ताहि ल्यावो मनाय। कटु बचन बान लग्गे अघाय।
हय बाल पंच दिज्जै मँगाय। नातर महोब तजि नगर जाय ॥६४॥
ऐसी कुबत्त नृप कर्ण दीन। आल्हन मनाय अब मत्त कीन ॥
कोपति अनन्तरो रहि सुकोन। यह कहि सुवत्त जग भये मोन ॥६५॥

दोहा।

अस्रु वरसि अति रुदन करि, गये मल्हन दे पाय।
जगनिक मन्त्रनि कील करि, लैहै सेस रिझाय ॥६६॥
करुना रसजग मानि मन, स्वामि धर्म मन दीन।
आल्हा मनावन कर प्रवृति, करि विचार सो लीन ॥६७॥
मल्हन दे पाँइन परिग, उठे जगन अतुराय।
कै लै आऊँ आल्ह कै, प्रान तजौं सुखपाय ॥६८॥
सहुगायत[4] दिय आल्ह कहँ, आपु नृपति सुखपाय।
सोभित बानी राय को, लिन्नब भूप मँगाय ॥६९॥
दिन्नव पान प्रसन्न मन, श्री भूपति चित लाय।
सीख दइय मग चढ़ न कौं, हरनागरौ[5] मँगाय ॥७०॥

चौपही।

लै दुजराज चले कवि जानिय। सीख दई परमाल सुमानिया ॥
हिरन आगरे[6] पर चढ़ि लिन्नब, जगनक भाट[7] बिदा करि दिन्नब ॥७१॥

पायाकुल।

अल्हन[8] कौं दिय अस्व सु मुत्तियमाल है।
दइय कलँग्गिय सीस जराइन जाल है ॥
दीन जरी बहुमोल सु अंसुक चार है।
माछुल[9] कौं दिय मल्हन[10] मुत्तिय हार है ॥७२॥

दीन जराइ कि मट्ठिया[11]देवल रानि कों।
ईदल[12]को दिय मुक्त धरै बहु पानि कों ॥
ऊदल को इक अस्व जवाहिर ठान है।
जीन अमोल सुसाल बिसाल कमान है ॥७३॥

दोहा।

कंकन दये जराय के मुक्तमाल पहिराय।
कनवज[13] को परमाल नृप, बिदा किये कविराय ॥७४॥

सोरठा।

मल्हन कहिब सन्देस, बेगि बहुरि जग आइयब।
नातर छूट्टत देस, भूमहीन चन्देल सब ॥७५॥

दोहा

जा दिन आल्हन पुत्र हुव, नची अजिर[14]महँ आयं।
देवल दे हार्‌यो वचन, सो तुम सर्व सुनाय ॥७६॥
धनि याकी सिख मानि कै, मनिया[15] के पग लाय।
हूजो देव प्रसन्न तुम, जातें अल्हन आय ॥७७॥
मनिया सुर के चरन परि विनय कीन कविराय।
जो आवै जसराज सुत, तो तुव दरस बताय ॥७८॥
मनिया दे दरसन दये, स्वामि वसन धरि गात।
जगनक राय पधारिये, आवहि आल्हन जात ॥७९॥
मनिया दे के बचन सुनि, चले जगन सिर नाय।
हिरन आगरे बैठि कै, कनवज दिस कहँ जाय ॥८०॥

---

१. अंतःपुर २. बैन या वचन ३. कुबात ४. सौगात, भेंट ५. हरनागर अश्व ६. हरनागर (अश्व) से निसृत ७. जगनिक भाट, आल्हखन्ड का रचयिता ८. आल्हा ९. मछला, आल्हा की पत्नी १० चंदेलनरेश परमर्दिदेव (लोक प्रसिद्ध परमाल) की पटरानी ११. विशेष धातु की जड़ाऊ चूड़ियाँ, जो मध्ययुग के विशिष्ट आभूषण थीं। १२. आल्हा का पुत्र १३. कनवज, पाठ अशुद्ध है। १४. आंगन १५. मनियाँ देव, जिन्हें इतिहासकार वी० स्मिथ ने गोंड़ों का देवता माना है।

आल्ह राइछो (१७ वीं शती)

आल्ह राइछो का रचयिता और रचनाकाल अज्ञात है। पं० गौरी शंकर द्विवेदी ने उसे जगनिककृत मान लिया है, पर भाषारूप से वह १७ वीं शती की कृति प्रतीत होती है। हस्तलिखित प्रति केवल प्रतिलिपि-काल—कार्तिक बदि ३० सोमे सम्बत १९१० बि० दिया गया है।

इस लघु लोक प्रबन्ध में ४३८ छन्दों में आल्हा के जीवन का एक खण्डचित्र अंकित किया गया है। कवि ने आल्हा-ऊदल के महोबा से निष्कासन को आधिकारिक कथा के रूप में ग्रहण किया है और कारणस्वरूप माहिल की चुगली, परिणाम स्वरूप पृथ्वीराज की महोबा पर चढ़ाई, जगनिक का महारानी माल्हन दे का पत्र लेकर कन्नोज जाना और आल्ह- ऊदल को लेकर महोबा आना प्रासंगिक कथाएं है। सम्भव है कि जगनिक के आल्ह-मनउआ के आधार पर इसकी रचना की गयी हो। कथा के इस लघु आयाम ने उसे प्रवाह और अन्विति प्रदान की है, पर आल्खण्ड जैसी ओजमयता और उदात्तता नहीं आ पाई। आल्ह राइछो की प्रमुख विशेपता है-लोकवातावरण के चित्रों से युक्त लोकभावों की निश्छल अभिव्यक्ति, बुन्देली का यह लाड़ला रासो गीतपरक रासो काव्यधारा का अग्रणी ग्रन्थ सिद्ध होगा, इसमें कोई सन्देह नहीहै। यहां कुछ छन्द दिये जा रहे हैं—

सुन बनरस के राय, मँडरिक[1] हँस-हँस के कहै।
जस अपजस रहि जाय, सदा नहीं कोऊ अमर ॥
सिरोपाय[2] मँगवाय, सौंप्यो चौंड़ाराय के।
हाथी दियो चढ़ाय, पान दिये कीन्हो बिदा ॥
दीन्हें दस असवार हैं, चौड़ा गुहिने जाय।
गिरवर लौं पहुँचाइयो, जहां पियौरा राय ॥
चौड़ा की कीन्हीं बिदा, बैठो है दरबार।
कूच कितै को कीजिये, लागो हिन बिचार ॥
कहो बनाफर राय, जमक्कै गिरवर टोड़ी।
पकर पिथौरे लेव, आन इन हमरी गोड़ी[3] ॥
लढ़ आयो चौहान, लगो माहिल की बातन।
हरवर[4] कीजे कूच, भाग जै है अधरतन ॥
तब जगनिक बिनती करी, अपनी राय जुहारिये।
अब आयसु लै परमाल की, फिर सम्हर[5] दल मारिये ॥

यहो मतो ठहरान, कूच महोबै कों करिये।
लै राजा को पान, पुन चोहानन मारिये॥

1. मंडलीक, मंडल का राजा 2. सिरोपाव, सिर से पैर तक का पहनावा 3. गोड़, पाँव 4. जल्दी 5. पृथ्वीराज का सैन्य दल।

जगतराज-दिग्विजय (१७२२-२३ ई०)

कवि हरिकेश कृत जगतराज-दिग्विजय वीररस प्रधान चरित काव्य है, जो अभी तक उपेक्षित रहा है इसका विस्तृत परिचय मैंने एक शोधलेख (बाबू-वृन्दावन दास अभिनन्दन-ग्रन्थ में प्रकाशित) में दिया है। हरिकेश जी सेंवढ़ा (जिला दतिया) निवासी विप्र थे और पन्ना नरेश महाराज छत्रसाल तथा जैतपुर नरेश जगतराज के आश्रित थे। उनके एक 'लड़ाई काव्य'-अब्दुल समद की लड़ाई में छत्रसाल के एक युद्ध का वर्णन है और वृहत प्रबन्ध जगतराज-दिग्विजय में जगतराज और दलेल खाँ के बीच ऐतिहामिक युद्ध की कथा के साथ अन्य छोटे-बड़े युद्धों के संक्षिप्त विवरण हैं। दोनों ग्रन्थों की साक्ष्य से कवि का कविता-काल १८ वीं शती का पूर्वार्द्ध ठहरता है. जगतराज-दिग्विजय में चन्देलों और बनाफरों के विवरण के साथ आल्हा-ऊदल सम्बन्धी कुछ छन्द भी हैं, उनमें से तीन यहाँ प्रस्तुत हैं—

चिन्तामणि ससीपाल कृपाचन्द्र सभाचन्द्र,
मकरंद महाबली अक्रूर अक्षयराज।
मणिकंठ सनकंठ ताराचन्द्र दीपचन्द्र,
सोडर अकूर भओ वत्सराज दसराज।
दसराज जू कें भे सुपुत्र युग महाबली,
आल्हा औ ऊदल चन्देल के सुलभ काज।
आल्हा कें ईदल भो ऊदल कें भो नरेन्द्र,
पुत्र भये नामी यों सनामीं भो चन्देलराज।

वन्हि वर दै दियो बालक अतालिक सो,
चितामणि ख्यात नाम चिंतामणि वरन मैं।
वँस प्रति वँस याको ससीवँस सँग चलै,
नाम कहो बन्दि देव बन्हफर धरनि में।

चन्द्रब्रह्म भूप भयो महि पै अनूप ताको,
बन्हाफर बन्हि तुल्य ओप है उरन में।
ताके बँस सूरो स्वामिधर्म में सहूरो महा —
नामी भयो आल्हा आला जगत के नरन में॥

ऊदल ऊदल मारि प्रचारि करी बहु रार महारन ऊदल।
सूर महा लखि सूर कहैं करनी भरपूर सु भुरहि भूतल।
आल्ह करी परमाल लखी करवालहि ब्रह्महि जीत हितू तल।
बीर बली समरथ्थ कहैं हरिकेश दुहू दल ऊदल ऊदल॥

० वीर-विलास (१७४१ ई०)

कवि ज्ञानी जू की रचना वीर-विलास वीर रस की प्रौढ़ कृति है, परन्तु इसे अभी तक किसी साहित्येतिहास में स्थान नहीं मिल सका है। केवल डा० रामकुमार वर्मा द्वारा सम्पादित हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की विवरणात्मक सूची में इसका संक्षिप्त विवरण मिलता है, जिसमें रचयिता अज्ञात बताया गया है, जबकि कवि की उसी कृति में रचयिता के नाम और निवास का उललेख है। ज्ञानी जू ने लिखा है कि वे जलालपुर (जिला हमीरपुर) के खेरे खड़वत खूब के निवासी हैं, जिसके उत्तर में कालिगंगा वेतवा बहती है। इससे स्पष्ट है कि यह ग्राम खेड़ी होगा, जो जलालपुर से सटा हुआ है। कवि ने एक दोहे में ग्रन्थ की रचना-तिथि सावन बदी दोज सं० १७९८ बताई है।

डा० रामकुमार वर्मा ने वीर-विलास को संभवतः नाम के कारण वीर चरितकाव्य माना है, पर उसमें दो प्रसिद्ध युद्धों का वर्णन है और कवि 'भयो दरेरो कौन विध नदी बेतवै तीर' के द्वारा यही संकेत करता है कि वह घाटना परक वीर प्रबन्ध ही लिख रहा है। ग्रन्थ दो भागों में विभाजित है—पहले भाग में आल्हा-मनोआ और बेतवा के युद्ध का वर्णन और दूसरे में बेला का गौना और सती होने की कथा है। कथावस्तु आल्हखंड की उपजीवी है, किन्तु वह शास्त्रीय प्रबन्ध के साँचे में ढलकर परिनिष्ठित हो गई है। कवि की कुशलता इस बात में है कि प्रबन्धात्मक रूढ़ियों में फँसकर भी उसका लोकरूप क्षतविक्षत नहीं हुआ है। लोकस्वाभाविक सहज प्रकृति को केन्द्र में रखने से उसके चरित्र भी सजीव बन पड़े हैं। नारी पात्रों में कोमलता, मधुरता और भावुकता के साथ ओजपूर्ण दृढ़ता का अनोखा समन्वय है। कवि को भावुक

स्थलों की अच्छी पहचान है। कहीं वह संचारियों से पुष्ट स्थायी भाव की शास्त्रीय व्यंजना करता है, तो कहीं लघु प्रसंगों में सहज लोकभावों की अभिव्यक्ति। इसी प्रकार वह एक ओर परिनिष्ठित शब्दों का धनी है, तो दूसरी ओर लोक शब्दों का। संक्षेप में, प्रबन्ध-परम्परा की कड़ी में वीर-विलास छत्रप्रकाश दिग्विजय की श्रेणी में महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। यहाँ उसके कुछ छन्द उद्धृत हैं—

कीरत सागर ताल, मल्हना पहुँचावन गई।
अँसुवन भये दृग लाल, आल्हे लावहु हाल ही॥
कहत मल्हन दे रानि, कीरत सागर आम तर।
देस लेत चौहान, जगनिक हरबर आइयो॥

•

चमू चहूँ दिस आन चाँप चौहानन लीन्हीं।
दुहू बघिलवा फिरो हाँक देवै ने दीन्हीं।
फिर कौड़ी नहिं लहत गये मोती को पानी।
लेहु बिजुरिया ढ़ाल घाल सम्हर रजधानी॥

•

कच्छी केअमवार तुहै न लागै अच्छी।
मोह देव तलवार ढ़ाल औ साँग बरच्छी।
मुख पर घूँघट घाल पाँव में बिछिया धारी।
पाँव महावर देव नावनै वेग प्रचारो।
सब लोहो धर देव अंग सोनै मढ़ो।
युद्ध करन मैं जांव घोड़ा चढ़ डोला चढ़ो।

०

प्रथीराज दरेरो (१८वीं शती)

श्री इलाशंकर गुहा, आकाशवाणी, छत्रपुर के द्वारा मुझे इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है, किन्तु उसमें केवल मलखान-मोहिनी के विवाह की ही कथा वर्णित है। ग्रन्थ के नामकरण से ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें पृथ्वीराज चौहान और परमर्दिदेव चंदेल के बीच प्रसिद्ध युद्ध का आख्यान ग्रहण किया गया होगा, लेकिन पूरे ग्रन्थ में अनुमानत: एक हजार पृष्ठों में मलखान और मोहिनी के विवाह का एक ही प्रसंग मुख्य कथावस्तु है। इसलिएग्रं ग्रन्थ के हर पृष्ठ पर मलखान विवाह अंकित है। इस आधार

पर पृथ्वीराज दरेरो एक विराटकार महाकाव्य होना चाहिए। यह भी संभव है कि रचयिता ने केवल 'मलखान विवाह' ही रचा हो, फिर ग्रन्थ के नामकरण के सम्बन्ध में एक प्रश्नचिह्न लग जाता है। कवि ने या तो पूरा ग्रन्थ रचा होगा या उसकी योजना ऐसे महाकाव्य रचने की रही होगी। बहरहाल पूरी खोज के ही बाद कोई निर्णय लिया जा सकता है।

प्राप्त प्रति में पूर्व के १०० पृष्ठ नहीं है और अन्त में ७८० पृष्ठ तक वह अपूर्ण है। बीच में ७८७-७८८ पृष्ठ का एक टुकड़ा भी है। इस आधार पर ८०० पृष्ठों का अनुमान कठिन नहीं है। ग्रन्थ के अध्यायों की अन्त की पुष्पिकाओं में रचयिता का नाम, ग्रन्थ का नाम और कथा का विषय दिया गया है। उदाहरण के लिए ९वें अध्याय की पुष्पिका इस प्रकार है—'इते श्री कवि चंद विरंचतायां प्रथीराज दरेरो मलखान-मोहिनी विवाहे चतुरथे जुध्धे रांना पमार बध दो दिन संग्रामे जगनायक विजय चंद्रकवि चहुवांन सँवादे वर्ननोनाम नवमो अध्यावहु ९॥'

पुष्पिकाओं एवं ग्रन्थ के अनेक छन्दों में रचयिता का नाम 'चंद' ही दिया गया है, कहीं-कहीं 'चन्द्र' और 'चंद वरदाय' भी आया है, लेकिन कृति की भाषा मध्ययुग की बुन्देली है और इस दृष्टि से उसका रचयिता कोई बुन्देली कवि होना चाहिए। 'महोबा रासो' की हस्तलिखित प्रतियों में भी 'चंद' कवि का नाम मिलता है, यहाँ तक कि उसे जनपद के लोक 'चंदरायसो' के नाम से पुकारते हैं (कुछ उसे असली आल्हा या आल्हखंड समझते हैं)। असल में पहले के कृतिकार अपने नाम को गुप्त ही रखना चाहते थे, इसलिए वे उसके स्थान पर या तो आश्रयदाता का या किसी प्रसिद्ध कवि का नाम अंकित कर दिया करते थे। उदाहरण के लिए पं० मोहनदास मिश्र कृत 'कृष्णचन्द्रिका' में उनके आश्रयदाता चंदेरीनरेश 'रामचन्द्र' का नाम आया है। कहा नहीं जा सकता कि कितने कवियों ने अपने आश्रयदाता नरेशों का नाम ही उजागर किया हो। इसी तरह 'तुलसी' और 'सूर' का छाप डालकर अनेक पद या भजन रचे गये हैं, 'ईसुरी' के नाम पर हजारों फागें प्रचलित है और चंद वरदाई के नाम पर रायसो, कटक और समै। इस कारण कृति को रचयिता का नाम अज्ञात ही रह गया है। सम्भव है कि पूर्ण कृति प्राप्त होने पर पता लग सके।

कृति का रचना-काल अज्ञात है। शब्दों के द्वित्त से भाषा में पुरानापन लगता है, पर रासो-ग्रन्थों की इस तरह की प्रवृत्ति १८वीं शती तक अधिक प्रचलित रही। बंगला और दीमान शब्द भी बाद के लगते हैं। पच्चासवें

अध्याय में वाद्यों के नाम आये हैं—

बाजंत तबल तारिय मंजीर। मुहचंग ढोल मुहवर जभीर॥
सहनाय संघ धुन सुर समार। मिरदंग तुंग आदिक अपार॥[1]

इन वाद्यों मे मुहचंग १८वी शती तक प्रचलन में था। इससे इस ग्रन्थ की रचना १७वीं-१८वीं में शती में अनुमित की जा सकती है।

दरेरो का बुन्देली अर्थ धावा या आक्रमण है और युद्ध के लिए भी उसका प्रयोग हुआ है। इस प्रबन्ध मेंपृश्वीराज चौहान के चँदेलनरेश परमर्दिदेव पर आक्रमण या युद्ध का वर्णन नहीं है, परन्तु मलखान और मोहिनी के विवाह में ३२वें अध्याय तक ही २० युद्धों का चित्रण किया गया है। युद्ध-वर्णन की कुछ बिशेषताएँ ऐसी हैं, जो उमे अन्य ग्रन्थों से अलग कर देती हैं। जैसे राजा परमाल का युद्ध में जाना, माहिल का बिना चुगली किये या बाधा डाले आल्हा-ऊदल के साथ रहना और वर्णनों में पुनरावृत्ति कीं प्रवृत्ति न होना। अतिशयता की पुरानी प्रवृत्ति सेना, मृतकों आदि की संख्या में हर जगह है, किन्तु सभी वर्णन ओजपूर्ण हैं। २३वें अध्याय में आल्हा का बीड़ा न लेने से और मलखान के वर वेश में नेतृत्व से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि मलखान को ही नायकत्व प्रदान करना चाहता है। उसने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी है कि कोई भी वीर अगुवाई नहीं करता। बहरहाल रचनाकार का कला-कौशल भी इस कृत्ति को १७-१८वीं शती का सिद्ध करता है।

इस ग्रन्थ की समीक्षा और कभी की जाएगी, यहाँ उसका एक संक्षिप्त अंश बानगी के रूप में दिया जा रहा है—

भा चिता रन मै जुरौ होत सैन कौ नास।
जासैं आल[2] विचार मन गधा[3] जुध्ध परगास॥७८॥
समर छेड़ आलंन करौ दीनी दूत पठाय।
दुंद जुध्ध कौं छंडिअैं गधा जुध्ध ठहिराय॥७९॥

चौंपही—तब आलंनसी[4] दूत पठावौ। सो चल चिता[5] के ढिग आवौ॥
कर प्रनाम बोलौ कर जोरी। बिनय बेग सुनिअैं अब मोरी॥८०॥
दुंद समर तज विनय हमारी। गधा जुध्ध चल कीजे रारी॥
सो सुन चिता अत मुक[6] माना। कह तुम जाव करव घमसांना॥८१॥
दुहु दल पंतबंद[7] कर ठांडे। धरमधुरींन धीरु रन गाडे॥
भूप बराती सब रहि संगा। गहि गहि कंगल[8] चडे तुरंगा॥८२॥
तब तिन निज निज पील बडाऐ। दुहु दल बीच बीर तब आऐ॥
वतरत[9] भऐ गधा कर लींनै। धीरधुरींन वीर रसभीनै॥८३॥

गहि गुरु गधा कंध पर धारी। धींम चाल आऐ मतुवारी।
यम राजत बिय[10] बीर बिसाला। जरासिंधु जिम करन कराला॥८४॥
समर भूंम आऐ तब तीरा। कर प्रनाम भुज गहि गहि बीरा॥
कुसल छेम पूछी हरषाई। बिछुरे बंध मिले जिम आई॥८५॥

दोहा—तब चिंतामन बच्चरौ[11] सुनौ बनाफर राय।
जो कुछ करनै होय सो कहौ बीर चितुलाय॥८६॥

चौंपही—सुनत आल तब यह बिध कहिऊ। धीर पुरस तुम जांनत सबऊ॥
सिवा संभु आराधंन करकैं। लींनै बर इछ्छित मुद भरकैं॥८७॥
हो तुम धरम धीर गुन गाहक। अधरम पंथ षलंन के दाहक॥
जेठ पुत्र अधपत भुप होई। कहत बेद जांनत सब कोई॥८८॥
हो जुवराज आय यह थल मै। समर धीर साहस बर बल मै॥
तासैं तुमसौं कहि अत बचना। मैटहु सकल समर की रचना॥८९॥
आंनद होय सुनत सब काहू। रुच सैं कीजे बिहिन बिबाहू॥
तुमरो करो होत सब भाई। बिध सौं देव पितहि समुझाई॥९०॥
बचन मानहैं तुय पितुमाता। सहित सैंन जुत सांवत भ्राता॥
तुमसै श्रेष्ट न कुय दल मांहीं। आयस भंग करहि को थांही॥९१॥
तात मात सैं बिनय करीजे। दुंद निबार महां जस लीजे॥
अस कहि आल मौन सो भयऊ। बिहिस बचंन चिंतामन कहिऊ॥९२॥

दोहा—सुनत आल के नीतजुत बचन बिसैंनै बीर॥
कहत भवौ रिस छंड कें चिंतामन मत धीर॥९३॥

तोटक—तुम सत्त बनाफर बत्त कही। यह मै कछु वौर न भेद सही॥
जब भूप बिबाह रचो भगनी। दरुवार समूहि लगो रचनी॥९४॥

टिप्पणी :—१. तबल, ताल, मुहचंग, ढोल, शंख, मृदंग, महुअर आदि प्राचीन वाद्य थे। शहनाई मध्ययुग में प्रचलित हुआ। मुहचंग त्रिशूल जैसे आकार का धातुनिर्मित और फूंक से बजाया जाने वाला बाजा है। २. आल्हा ३. गदा ४. आल्हा ५. एक विशेष पात्र या या चरित्र ६. सुख ७ पंक्तिबद्ध ८-९. बातों में लीन १० दोनो ११. उच्चरी = बोला

● आल्हा (१९वीं शती का उत्तरार्द्ध)

पुंछी-करगवां निवासी शिवदयाल कमरिया द्वारा रचित आल्हा का उल्लेख राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने एक संस्मरण में किया था, जिससे उसकी लोकप्रियता सिद्ध होती है। कवि के पिता का नाम श्री पारीछत कमरिया और माता का अमानबाई था। उनकी कुछ पंक्तियों से प्रकट है कि विशेष पढ़े-लिखे न थे और अभ्यास से उन्होंने संगीत और काव्यशास्त्र की विद्या प्राप्त की थी। पहले 'पजन' उपनाम से लोकगीत, मंजें और फागें लिखा करते थे, बाद में रामचरित मानस से प्रेरणा लेकर आल्हा की रचना की, जिसने उन्हें उस क्षेत्र में जनप्रिय बना दिया और लोग उन्हें सम्मान से शिवू दा कहने लगे। कहा जाता है कि एक बार जब उनके पुत्र हत्या के अपराध में बन्दी बना लिये गये, तब कवि ने स्वयं टीकमगढ़ जाकर महाराज महेन्द्रप्रताप सिंह को अपनी रचना सुनाई थी और बन्दी पुत्र को मुक्त करा लिया था। इस घटना से सिद्ध है कि कवि टीकमगढ़ नरेश महेन्द्रप्रताप सिंह (१८७४-१९०६ ई०) के समय विद्यमान था और आल्हा की रचना कर चुका था। साथ ही राजा उस रचना से बहुत अधिक प्रभावित हुये थे और तभी से उसका प्रचार-प्रसार हुआ होगा।

शिवू दा का वह 'साको' जगनिककृत आल्हखण्ड की कथा पर आधारित है। कवि ने उसे विविध वर्णनों के द्वारा सरस बनाने का प्रयत्न किया है, पर उसमें आल्हखण्ड जैसी प्रभविष्णुता और प्रभावक्षमता नहीं है। इतना अवश्य है कि बुन्देली की उक्तियों के सौन्दर्य बिम्बों की सटीक योजना और संगीत के माधुर्य ने उसे जनप्रिय बना दिया है। बुन्देली में यदि प्रसादता, कोमलता, सरसता और ओजस्विता को एक साथ देखन हो, तो वह शिवू दा के आल्हा में मिलेगी। यहां एक छोटा सा अंश उद्धत है—

तरफ हेर कें माहिल के मलना बोली बचन उचार।
घरी भुजरियां महिलन में ताको करिये कौन बिचार॥
आल उदलसी घर नइयां उर गढ़, कनवज गये रिसाय।
अनरस [1] हो गई चन्देले सें मलखे गओ कनारो [2] खाय॥
धार पिथौरा की थामे को आड़ी करै कौन तरवार [3]।
ब्रहम चन्देलो लरिका है कोउ नइयां पिठ रखवार [4]।
बारा मढ़ियां हम पूजत फिरैं उर तीरथ करें प्राग।
एक पन-देबा [5] महाराज के बरमा तनक दिया लौ आग॥

अँगुवन भीजे रंग मारे रानी ढोरे ढ़बरियन [6] आस।
अल्ल उदल की सुद [7] आवै उर जब लैवै सांस पै सांस॥
सावन पर्बी [8] पूनै को राखी बांदे सब सिन्सार।
परो सांकरो [9] हम पर है सिर पै परी सामरी [10] वार।
आल ऊदल को पीछो तको जब कोप करो चौहान।
सूनो महोबो कर जान कें घर पै लूटन कहत चौहान॥
नगर महोबे खों घेरा दये दल परो सामरी वार।
ताल किरतुवा को वेंदिया पै पूरी चलन कहत तरबार॥
करी खातिरी माहिल नें सिर पै गंगाधार।
ताल किरतुवा की वेंदिया पै मैं आड़ी करों तरवार॥
आ गई खातिरी रानी खों महिलन बदल चली सुक [11] पाय।
माहिल भूपत संगै चले दुवारे नौ [12] दयो पहुँचाय॥
राजा की वेदी होय लसगर में वेदी बैरी सामरी वाट।
मनियां देव के मन्दिर में वेदी बैठो ब्रहम कुमार॥
बेद पुरानन की धुन हो रई जाँ ताँ हवन करे सिरदार।
कन्नज पूजै दिल्ली सुर और बरमा की पुजै तरबार।
करिया पाठे [13] की बरिया [14] तरे जुगियन लग रये भगवां पाल।
पुजै भगौती [15] ऊदल की बेटी बैठो बनाफर आल॥
पढ़बो लिखबो जा सिंसार में बम्मन कायस्त बैस को काम।
ऐसो समझ कैं हिरदै में साद भजलो सीताराम॥
पहिले कर पाछे गुवां [16] चलता सिंगी रिखन को नाम।
अन्त के अच्छर बिधि मुख छोड़के भाई जा कबिता को ठाम॥ [17]
सुनके सन्चो कोउ करियो ना और चातुर देके ध्यान।
कढ़ै कजलिया महुबे की सब मिल मंत्र करो परवान॥

---

१. रोष, रुखाई, बिगाड़ २. दूर होना, अलग होना ३. बुंदेली मुहावरा, सामाना करना ४. बंदेलीं मुहावरा, रक्षा करना, रक्षक ५. पन+देवा=पुरखों को पानी देने वाला=पुत्र ६. डबरा ▷ ढ़बरा ▷ ढ़बरियन=कई छिछले गडढ़े, जिनमें छिछला या उथला और गन्दा पानी हो, जो प्यासे की प्यास न बुझा सके। लाक्षणिकता से छूंछी आशा। ७ सुधि ▷ सुदि=याद। ८. पर्व ९. मुसीबत १०. पृथ्वीराज चौहान ११. सुख ▷ सुक १२ तक १३. महोबा में एक पठार १४. बरगद का पेड़ १५. भगवती १६. गमाना, खो देना (गँवाना) १७. कूट पंक्ति।

- **प्रथीराज रायसो तिलक (१९१९ ई०)**

जिगनी निवासी दिशाराम ब्रह्मभट्ट ने सं० १९७६ वि० में इस तिलक की रचना वीर या आल्हछन्द में की थी। ग्रन्थ का नामकरण भ्रामक है, क्योंकि इसमें आल्हखंड के आधार पर ही कथा की योजना की गयी है। चन्द्रमुखी को समय में (पृ० २४) कवि ने आल्हा-ऊदल का वंशवृक्ष सा दिया है—अग्निदेव→चिंतामन (सं० ६२६, वह्निदेव से प्रकट होने के कारण बनाफर, शशिवन्शी क्षत्रिय, चन्देलनरेश चन्द्रब्रह्म के सेनापति)→शशीपाल →कृपाचन्द्र→सभाचंद्र→मकरंद→अक्रूर→अक्षयराज→मनिकंठ→शनकंठ →ताराचंद्र→दीपचंद्र→सोडर अक्रूर→वत्सराज एवं दसराज→दसराज के सुपुत्र आल्हा-ऊदल। कथा में मौलिकता उतनी नहीं, जितनी प्रचलित आल्हखंड की अनुकृति है। बुन्देली के लोकप्रचलित शब्दो का प्रयोग है, परन्तु भाषा में तत्सम शब्दों की बहुलता है। एक उदाहरण निम्नांकित है—

भये कपूत मेरी कुक्षा तें क्यों ना बांझ करी करतार।
कामें नहिं आये स्वामी के क्षत्री धर्म दियो बिसराय।।
अतिहीं कोप कियो पुत्रन पर नेंनन रही लालरी छाय।
करुना कर देवल दे रानी नेंनन ही नीर टरकाय।।
चोली भींज गई आंसुन सें रानी कहै बचन बिलखाय।
पुत्र नहीं ये सत्रु हमारे कुल में दीनों दाग लगाय।।
रज खो दीनी रजपूतन की खोयो सात साख लौ नाम।
जान सांकरे में स्वामी कों सेवक रहे बिदेसै छाय।।

आल्हखण्ड ऊर्जा का ऐसा लोकमहाकाव्य है, जो देश के जन-जन में स्फूर्ति और उत्साह जगाता आ रहा है। देश का अधिकांश लोकजीवन उससे आज तक प्रभावित है। ऐसे लोकप्रिय लोककाव्य की विविध वर्णनाएं कन्नौजी, अवधी, भोजपुरी, बघेली, बैसवाड़ी, भदावरी, कौरवी बुन्देली आदि विभिन्न लोकभाषाओं में मिलती हैं। कुछ विद्वानों जैसे सर चार्ल्स इलियट, सर जार्ज ग्रियर्सन और इतिहासकार वी० स्मिथ ने आल्हखण्ड के कन्नौजी और बुन्देली पाठ देने के महत्वपूर्ण प्रयास भी किये थे, किन्तु आल्हखण्ड की वस्तु और शिल्प पर कोई भी कृति अभी तक उपलब्ध नहीं थी। इसी कमी की पूर्ति हेतु प्रस्तुत पुस्तक एक सबल प्रयास है।

इस कृति में आल्हखण्ड की खोज से सम्बंधित प्रमुख समस्याएं पृष्ठभूमि के रूप में तत्कालीन इतिहास, रचयिता का परिचय, कथा-चक्र भाव एवं भाषा का सौष्ठव, शिल्प, गायकी आदि पर प्रसिद्ध विद्वानों के शोधपूर्ण निबंध संग्रहीत किये गये हैं। उनके लेखक आल्हखण्ड के सूक्ष्म पारखी हैं। इस कारण यह कृति आल्हखण्ड की प्रामाणिक शोध और समीक्षा का एक ऐतिहासिक दस्तावेज बन गयी है। आल्हखण्ड पर यह प्रथम समीक्षा ही नहीं है, वरन् एक गंभीर चिन्तन की प्रतीक भी है।

आल्हखंड शोध और समीक्षा